

॥ श्रीहरिः ॥

करपात्र चिन्तन



वादतोषित विश्वेशं, धर्ममार्गं प्रवर्तकम् ।
वन्दे हरिहरानन्दं, करपात्रं जगद्गुरुम् ।

प्रणेता

स्वामी सदानन्द सरस्वती

(स्वामी वेदान्ती जी महाराज)



धर्मसम्राट श्रीस्वामीकरपात्रीजी महाराज

सनातन विधान

हिन्दुओं के विश्वासानुसार उनका विधान सनातन है। उन्हें नये विधान बनाने की आवश्यकता नहीं। यह जगत् जड़ परमाणुओं एवं विद्युत्कणों अथवा जड़ प्रकृतिमात्र से नहीं बना। जब रेल, तार, रेडियो, वायुयान, टैंक, तोप, मशीनगन, परमाणु बम आदि बनाने के लिए किसी बुद्धि एवं मस्तिष्कसम्पन्न चेतन मनुष्य की कल्पना की जाती है तब फिर आकाश, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, समुद्र, शुक, पिक, मयूर, हंस, बन, लता, पुष्प-स्तम्भ, फलादिपूर्ण भूमण्डल, मनुष्य तथा उसके मस्तिष्क, बुद्धि, शरीरेन्द्रियादि विविध वैचित्र्योपेत प्रपञ्च बनाने वाला अवश्य ही कोई चिंतक और सर्वज्ञ होना चाहिए। कोई भी चेतन बुद्धिपूर्वक ही कार्य-रचना कर सकता है। कुम्भकार दण्ड, चक्र, चीवरदि सामग्री-सम्पादन और ज्ञानपूर्वक ही कुम्भ का निर्माण करता है। इसी तरह ईश्वर भी सर्वज्ञानपूर्वक ही सर्वप्रपञ्च का निर्माण करता है। उसके सर्वज्ञान से सूक्ष्म शब्दों का अनुवेध मानना सर्वसम्मत है। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (वाक्यपदीय) अर्थात् ऐसा कोई भी प्रत्यय-ज्ञान-संकल्प-विचार नहीं, जिसमें परिचित भाषा के सूक्ष्म शब्द न हों। इस दृष्टि से ईश्वर के सृष्टिमूलक विज्ञान में भी किन्हीं शब्दों का अनुवेध अवश्य होना चाहिए। वे ही सूक्ष्म शब्द वेद हैं, वे ही वेद उसके विधान भी हैं।

संसार के ग्रीक, लैटिन, जेन्द, संस्कृत आदि भाषाएँ ही, सर्वप्राचीन भाषाएँ हैं। यद्यपि कहा जाता है कि ये भाषाएँ परस्पर एक दूसरे की बहन हैं, इनकी जननी कोई अन्य भाषा रही होगी, जो अब अनुपलब्ध और अविज्ञात है। इन भाषाओं में विलक्षण समता देखकर लोग अनुमान करते हैं कि कभी अवश्य इन भाषाओं के भाषी लोग किसी एक ही स्थान पर रहते रहे होंगे और वे एक भाषा के ही भाषी रहे होंगे, परन्तु आज उस भाषा का पता नहीं लगता। देश में भी मतभेद हैं, पश्चिमोत्तर एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि देशों का अनुमान किया जाता है। जैसे-जैसे वहाँ से लोग एक-दूसरे दल से अलग होकर दूर होते गये, वैसे-वैसे उन में भेद पड़ता गया। परन्तु थोड़ा-सा ही विचार का कष्ट करने से विदित हो जायगा कि वह जननी भाषा-जिसके सम्बन्ध में मृत हो जाने की कल्पना की जाती है—संस्कृत भाषा ही है। इसे अन्य भाषाओं की भगिनी न मानकर जननी मानना ही उचित है। इसके विशाल प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग तथा अक्षय शब्दकोश, अप्रतिम व्याकरण तथा साहित्य संसार की निधि हैं। इस में अपार क्षमता है। साथ ही इससे प्राचीन किसी भाषा के होने में प्रमाण नहीं मिलता। आधुनिक ऐतिहासिक भी ऋग्वेद को दुनियाँ की सबसे पुरानी पुस्तक मानते हैं। उसे कम से कम पाँच हजार वर्ष का माना जाता है। मोहनजोदड़ों तथा हरप्पा की खुदाई में मिली हुई वस्तुओं के आधार पर तो अब लोग यह भी मानने लगे हैं कि वहाँ की वस्तुएँ कम से कम उस सभ्यता को, जिसकी वे वस्तुएँ हैं, पन्द्रह हजार वर्ष पुरानी सिद्ध करती हैं। वहाँ के शिल्प, चित्रों के रंग, वर्तन, कुण्ड, यज्ञपात्र तथा अन्य वस्तुओं से विदित होता है कि वे वैदिक सभ्यता की वस्तुएँ हैं। कई लोग उन्हें सुमेरियन सभ्यता की वस्तु कहते हैं, परन्तु अन्य विद्वान् सुमेरियन सभ्यता को भी वैदिक सभ्यता की ही देन कहते हैं। कुछ भी हो, जहाँ आधुनिक पाश्चात्य सभ्यतावाले

लोग सम्पूर्ण दुनियाँ को ही पाँच हजार वर्ष की मानते थे और इसी में ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक दोनों ही काल दूसते थे, वहाँ अब वैदिक सभ्यता १५ हजार वर्ष की पुरानी सिद्ध होती है, यह कम प्रसन्नता की बात नहीं। वस्तुतस्तु आजकल के वैज्ञानिक भूमण्डल को ही लाखों नहीं, करोड़ों वर्ष का मानने लग गये हैं। पहले सूर्यमण्डल था। फिर उससे टुकड़ा टूटकर गिरा, वह ठण्डा होते-होते चन्द्रमण्डल बन गया, दूसरा टुकड़ा टूटकर गिरा, वह भूमण्डल बना, उसपर भाप, बादल, वृष्टि, वनस्पति, जानवर, वानर, तथा मनुष्य का क्रमिक विकास हुआ और आगे भी हो रहा है, विकासवादियों की इस युक्ति के अनुसार भी सूर्यमण्डल कैसे बना और कब बना, उसकी अब कितनी आयु है ? आदि प्रश्न बने ही रह जाते हैं।

आधुनिक विकासवादी तो अब प्रकृति की कल्पना भी कर सके हैं, परन्तु वैदिकों का निर्णय तो उन से बहुत ही पुराना है। उनके सिद्धान्तानुसार तो किसी भी कार्यरचना में प्रकाश हलचल और अवष्टम्भ (रुकावट) का होना अनिवार्य है, इसमें से एक के बिना भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हलचल ही चलती रहे, रुकावट न हो, तो कोई भी चित्र या वस्तु न बनेगी उसके लिए तो कहीं कुछ हलचल और कहीं कुछ रुकावट हो, तभी कार्यसिद्धि होती है। वहीं प्रकाश सत्त्व, हलचल रज एवं अवष्टम्भ तम है। इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति और वैषम्यावस्था विकृति है। प्रकृति में साम्य-वैषम्य भी स्वतः नहीं परन्तु किसी चेतन की शक्ति और इच्छा से ही सम्भव है। “जानाति, इच्छति अथ करोति” यह सिद्धान्त है। ज्ञान और इच्छा के अनन्तर ही कृति होती है, अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् के ज्ञान और इच्छा से ही, उसकी प्रेरणा या कृति से ही प्रकृति में भी वैषम्य, साम्य आदि होते हैं। जिसमें सबका अन्तर्भाव होता हो और जो किसी एक में समाप्त न हो, वही परमकारण और अधिष्ठान

है, जैसे मृत्तिका के विकार घट, शरावादि में मृत्तिका उपलब्ध होती है, वह किसी एक में समाप्त नहीं, परन्तु उसी में घट, शरावादि सब अन्तर्गत हो जाते हैं। इन्हीं सत्त्व, रज, तम, प्रकाश, चांचल्य, अवष्टम्भ, सबमें सत्ता है, स्फूर्ति है। सत्ता-स्फूर्ति के बिना सभी निःसत्त्व और निःस्फूर्त हो जाते हैं। फिर तो उनकी सिद्धि भी असम्भव हो जाती है। अतः सत्ता-स्फूर्ति सब में है, उनके बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता और सत्ता-स्फूर्ति में सबका अन्तर्भाव हो जाता है, वही सबका अधिष्ठान, कारण, प्रकाशक है, वही उपादान और निमित्त भी है। अतएव वेदान्त में अभिव्रजनिमित्तोपादान कारणत्व का सिद्धान्त है।

उस कारणभूत सत्ता, स्फूर्ति एवं आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द परमेश्वर के सृष्टिमूल ज्ञान में अनुविद्ध शब्द ही वैदिक शब्द हैं। फिर तो सृष्टि को पाँच-छः हजार वर्षों की मानना नितान्त भ्रम सिद्ध हो जाता है। जैसे बीज से पहले अंकुर, और अंकुर से पहले बीज मानना पड़ता है, बीजांकुर की परम्परा अनादि माननी पड़ती है, वैसे ही प्रस्वाप (सोने) से प्रथम जागरण और जागरण से प्रथम प्रस्वाप, जन्म से प्रथम मरण और मरण से प्रथम जन्म एवं सृष्टि के प्रथम प्रलय और प्रलय के प्रथम सृष्टि माननी पड़ती है। कर्म से प्रथम जन्म और जन्म से प्रथम कर्म मानना पड़ता है। कर्मरूप कारण की विचित्रता के बिना जन्मरूप कार्य की विचित्रता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार स्वाप-जागरण, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय, जन्म-कर्म का अनादिता माननी पड़ती है। फिर तो अनादि प्रपञ्च का अनादि कर्ता परमेश्वर अनादि ही सिद्ध होता है। उसका विज्ञान और विज्ञानानुविद्ध शब्द वेद ही अनादि भी सिद्ध होते हैं।

जो लोग वेद को पाँच हजार वर्ष का या कुछ और पुराना सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी यह दृष्टि केवल इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि किसी भी घटना के पश्चात् उसका कहीं उल्लेख हो सकता है। घटना

के पहले, किसी व्यक्ति के उत्पन्न होने से पहले, उसके नाम या घटना का उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं हो सकता। किसी पुस्तक में हिटलर का नाम देखने वाला मनुष्य यही समझेगा कि हिटलर का जन्म होने के बाद ही यह पुस्तक बनी होगी। इसी तरह वेद में विभिन्न घटनाओं, विभिन्न राजाओं, नगरों, नदियों, पर्वतों, धान्यों और जानवरों का वर्णन देखकर कोई भी मनुष्य यही समझेगा कि इन घटनाओं, राजाओं आदि के उत्पन्न होने के बाद ये ग्रन्थ लिखे गये होंगे। इस दृष्टि से उन घटनाओं, राजाओं आदि के कालनिर्णय के अनुसार ही वेदों का कालनिर्णय किया जाता है। परन्तु वेद के सम्बन्ध में ठीक इससे विपरीत धारणा बनानी पड़ती है। अर्थात् यहाँ घटनानुसारिणी आख्यायिका या इतिहासोल्लेख नहीं, अपितु इतिहास के अनुसार घटना या व्यक्ति होते हैं। यह कहा जा चुका है कि अन्य भाषाएँ चार-पाँच हजार वर्ष की ही हैं, तब ईश्वर के अनादि विज्ञान में उन भाषाओं के शब्दों का अनुबोध कैसे हो सकता है। अतः संस्कृतभाषामय वैदिक शब्दों का ही उसके ज्ञान में अनुबोध मानना युक्त है। इस तरह जब विश्व ईश्वरकृत है और ईश्वरविज्ञान, ईश्वरेच्छा एवं ईश्वरकृति से सम्पन्न है, तब उससे पहले ईश्वर की इच्छा, उससे भी पहले ईश्वर का ज्ञान और उस ज्ञान में अनुविद्ध शब्द भी ज्ञान के साथ ही रहा। जब वे ही शब्द वैदिक शब्द हैं, तब तो शब्दपूर्विका सृष्टि हुई। शब्दानुविद्ध ज्ञान, इच्छा एवं कृति से ईश्वर विश्व को बनाता है। फिर तो स्पष्ट है कि अर्थपूर्वक शब्द नहीं, अपितु शब्दपूर्वक अर्थ है। घटनापूर्वक आख्यायिका नहीं अपितु आख्यायिकापूर्विका घटना है। तथा च जैसे कुम्भकार अपने मन में कुम्भशब्द के द्वारा कुम्भज्ञानपूर्वक ही कुम्भ का निर्माण करता है, वैसे ही परमेश्वर वेद-शब्दों से ही विश्वज्ञानपूर्वक ही विश्व का निर्माण करता है। मनु कहते हैं— “वेदशब्देभ्य एवादी पृथक् संस्थाश्च निर्गमे” (१/११)। परमेश्वर वेदशब्दों से ही विश्व का निर्माण करता है। यही बात ब्रह्मसूत्र में कही गयी है— “शब्द

इति चेत्ततः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" । अर्थात् यदि वेद में वर्णित व्यक्तियों को अनित्य माना जायगा, तो तत्प्रतिपादक वैदिक शब्दों में अनित्यता आएगी, तथा च वेद की नित्यता बाधित होगी, तो इसका उत्तर यह है कि वेद से ही व्यक्तियों की सृष्टि होती है, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान अर्थात् श्रुतिस्मृति से सिद्ध है । परमेश्वर ने "एत" शब्द से देवों को, "असृग्रम" शब्द से मनुष्यों को, "इन्दवः" शब्द से पितरों को, "तिरःपवित्रम्" शब्द से ग्रहों को और "भूः" शब्द से पृथ्वी को बनाया- "स भूरिति व्यावहरत्तस्मादुवमसृजत, एत इति वै प्रजापतिर्देवान-सृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रविज्ञानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः ।" इस तरह ज्ञानपूर्वक, शब्दपूर्विका सृष्टि सिद्ध होती है ।

यद्यपि लोक में जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है, तब उसका नामकरण होता है तथापि यह अनित्य शब्दों और अर्थों के ही सम्बन्ध में कहा जा सकता है । "गो" आदि कितने ही शब्द हैं जिनका निर्माता उपलब्ध नहीं होता, उन्हें नित्य ही मानना चाहिए । शब्द और अर्थ का संकेत करनेवाले को भी संकेत के लिए किन्हीं शब्दों का आश्रयण करना ही पड़ता है । ईश्वर भी जिन शब्दों के द्वारा शब्दार्थ का सम्बन्ध बतलाता है, उन शब्दों को प्रथम से ही मानना पड़ेगा । अङ्ग-प्रत्यङ्ग सङ्केत से अनन्त शब्दों और अर्थों का सम्बन्धग्रह होना असम्भव ही है । इस दृष्टि से मूलस्थिति यही है कि ईश्वर के विज्ञान एवं तदनुविद्ध शब्द के अनुसार ही विश्व की सृष्टि होती है । अतः व्यक्तियों या आख्यायिकाओं को देखने मात्र से वेदों के काल का अनुमान नहीं किया जा सकता । योगी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा भविष्य, भूत सभी जानता है । महर्षि वाल्मीकि अरण्य में स्थित होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट सभी घटनाओं का साक्षात्कार करके रामायण लिख सकते हैं, तो फिर परमेश्वरीय विज्ञान वेद में सम्पूर्ण वस्तुओं का बोध

हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? “चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥” “शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः” (मनु १२/ १७-१८), “अत एव च नित्यत्वम्” (ब्र०सू०), “अनादिनिधना नित्या” इत्यादि वचनों से वेद की नित्यता प्रसिद्ध है ।

जब किसी भी छोटे राष्ट्र का भी शासन चलाने के लिए विधान अपेक्षित है तो फिर अनन्त ब्राह्मण्डात्मक जगत् का शासन बिना विधान के कैसे चल सकेगा ? साथ ही जब एक अंगुल भूमि, एक प्रकाश, एक वृक्ष और उद्यान, कूप, सरोवरादि भी बिना शासक एवं स्वामी के नहीं, तब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वन, पर्वत, सागर तथा ब्रह्माण्ड बिना शासक के कैसे होंगे ? इस दृष्टि से फिर उसका विधान अवश्य होना चाहिए और उसके अनुसार नियन्त्रणानुसार होता है । जब आगन्तुक नियम्य और नियन्ताओं में आगन्तुक विधान होता है, तब सनातन नियम्य-नियन्ताओं के बीच में विधान भी सनातन ही होना चाहिए । इसीलिए वेदरूप विधान को भी सनातन कहा गया है । सनातन ईश्वरीय विज्ञान में अनुविद्ध होने का लिङ्ग (चिन्ह) ही निःश्वास है, वैसे ही परमेश्वर की सत्ता का लिङ्ग ही वेद है । जब से जबतक प्राणी जीवित होता है, तब से तबतक उसके श्वास भी रहते हैं । इसी तरह जब से जबतक ईश्वर हैं, तब से तबतक उसके वेद भी हैं । ईश्वर सनातन है, अतः उसका श्वास भी सनातन है । निःश्वास होने से भी वेद में अकृत्रिमता सिद्ध होती है । सुप्त या प्रतिबुद्ध सर्व अवस्थाओं में श्वास रहता है, वह बुद्धि प्रयत्न निरपेक्ष है, अतएव अकृत्रिम तथा अपौरुषेय है । जीव ही क्या ईश्वर को भी बुद्धि या प्रयत्न वेदों के निर्माण में अपेक्षित नहीं होते । ईश्वर बुद्धि प्रयत्ननिरपेक्ष होने से सर्वथा अकृत्रिम और पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणपाटवादि दूषणों से सर्वथा असंस्पृष्ट होने के कारण वेद स्वतन्त्र रूप से परम प्रमाण

है। वस्तुतः वही विश्व का विधान है। अधिकांश भारतीय तो आज भी उसे ही अपना विधान मानते हैं। निष्कर्ष यह कि सनातन परमात्मा ने सनातन जीवात्माओं को सनातन अभ्युदय एवं परमपद को प्राप्त कराने के लिए अपने निःश्वासभूत एवं नित्यविज्ञानानुविद्ध सनातन वेदों के द्वारा जिस सनातन मार्ग को निर्धारित कर रखा है, वही हिन्दुओं का सनातन वैदिक धर्म है। “सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे”, “जीवभूतः सनातनः”, “छन्दांसि यस्य पर्णानि”, “अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्” “त्वमव्ययः शाश्वत-धर्मगोप्ता” इत्यादि गीता वचनों से भी परमेश्वर, जीव तथा छन्द (वेद) और धर्म की सनातनता, शाश्वतता सिद्ध है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा की गयी प्रत्येक व्यवस्था में धार्मिक संस्कारों का सन्निधान है। गायत्री आदि मन्त्रों द्वारा जो काम किये जाते हैं वे उन्हीं मन्त्रों के समानार्थक व्यत्यस्त मन्त्रों तथा अन्यान्य भाषामय वाक्यों द्वारा नहीं किये जा सकते और न उनके द्वारा वैसा पुण्य ही उत्पन्न हो सकता है। वे ही मन्त्र, वे ही वाक्य तथा वे ही पद्य हों, तथापि पौर्वापर्य का व्युत्क्रम होने अर्थात् पदों एवं वाक्यों के आगे पीछे हो जाने से वह फल नहीं हो सकता, तो फिर “राइस बाल” (चावल का गोला) आदि शब्दों से “पिण्ड” और “खम्भे” या “स्तम्भ” से “यूप” आदि अर्थ कैसे निकल सकते हैं? “पिण्ड”, “यूप”, “आहवनीय” आदि से सतत संस्कार विशिष्ट धार्मिक अर्थ गृहीत होते हैं। अतः मूल वैदिक आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ही हिन्दुओं के धार्मिक सामाजिक जीवननिर्वाह की व्यवस्था है। लोकदृष्ट्या यदि कोई निर्विघ्न, निर्दोष अन्य मार्ग हो, तो भी आस्तिक हिन्दुओं के लिए वह अमान्य है। श्मशानाग्नि से दाल चावल पक सकते हैं, फिर भी आस्तिक उसे ग्राह्य नहीं मानते।

कुछ लोग कहते हैं कि “स्मृतियों, पुराणों तथा ऋषियों की विचित्र एवं विभिन्न उक्तियों को देखकर यह मानना चाहिए कि देश, काल, परिस्थिति

के अनुसार शास्त्र और नियम बदलते रहते हैं। विभिन्न स्मृतिकारों ने अपने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार धारणोपायानुकूल जिन नियमों को बनाया, वे नियम शास्त्र हैं।" परन्तु यह कहना सर्वथा असङ्गत है। "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इत्यादि जैमिनिसूत्रों में यह स्पष्ट है। हाँ, वेदों के अनुसार ही सब स्मृतियाँ हैं। जैसे आज भी सब सङ्कट और असङ्कट की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विधान बनाया जाता है, वैसे ही परमेश्वर के नित्य विधान में सब देश, काल, परिस्थितियों का ध्यान रखा गया है। भेद इतना ही है कि लौकिक-विधान-निर्माता अल्पज्ञ होता है, उसके निर्मित विधान में फिर भी त्रुटि रहती है। ईश्वरीय विधान में सर्वथा त्रुटि नहीं रहती, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, अतः आपत्ति-सम्पत्ति-काल भेद से वेदों में ही जो सूक्ष्म तथा विप्रकीर्णरूप से धर्म कहे गये हैं, उन्हीं का स्मृतिकारों ने सङ्कलन करके स्मृतियाँ बनायीं हैं। "श्रुतेरिवार्यं स्मृतिरन्वगच्छत्" श्रुतिविरुद्ध जो भी स्मृति हो, वह त्याज्य है, फिर आज कोई व्यक्ति वेदविरुद्ध विधान बनाये, तो वह कैसे मान्य होगा? आजतक का "हिन्दू लॉ" मिताक्षरा, दायभाग मनु, याज्ञवल्क्य तथा वेद के आधार पर ही बना है। अभी तक हाईकोर्ट, प्रिवी कौंसिलों में वचनों का अर्थ ही किया जाता है, मनमानी करने का साहस कोई नहीं करता। इस अर्थ में आज भी हिन्दुओं का विधान वेद ही है। जब तक वह ईश्वर मृत न हो जाय या अवकाश ग्रहण कर अपना अधिकार हस्तान्तरित न कर दे अथवा वह पराजित न कर दिया जाय या उसे ही अपने विधान में त्रुटि न मालूम हो तब तक उसके विधान में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को कैसे हो सकता है? ईश्वर नित्य है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, अतः पूर्वोक्त अवस्थाएँ उसमें सम्भव नहीं, फिर उसके विधान को कौन बदल सकता है?

इसके अतिरिक्त फल देनेवाला ही धर्माधर्म बदल सकता है, फल ईश्वर से भिन्न कोई भी व्यक्ति या समूह नहीं दे सकता, अतः किसी को

धर्माधर्म बदलने का भी अधिकार नहीं। वहाँ पत्र व्यक्तियों की सम्पूर्ण सम्मतियाँ सर्वथा बेकार होती हैं। धर्माधर्म के बदलने न बदलने में फलदाता परमेश्वर की ही सम्मति मुख्य है, उसके हस्ताक्षर या सम्मति के बिना अर्बुदों महाविद्वानों की सम्मति भी व्यर्थ है। अनादि, अपौरुषेय वेद ही उसका निःश्वासभूत वचन एवं नित्यज्ञानानुविद्ध शब्दराशि है, तद्विरुद्ध सभी सम्मतियाँ हानिकर हैं। कोई भी व्यक्ति अपने ही जन्म-कर्म नहीं, जानता और जाने तो भी फल पाना उसके हाथ की बात नहीं। ऐसी स्थिति में सगेत्र, अन्तर्जातिविवाह से पुण्य होगा या पाप, नरक मिलेगा या स्वर्ग इस सम्बन्ध में ईश्वर से भिन्न सभी अनभिज्ञ ही हैं। ईश्वर ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को जानता है, वही एक-एक ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों तथा एक-एक जीवों के अनन्तानन्त जन्मों को जानता है, वहीं एक-एक जन्म के अनन्त कर्मों तथा एक-एक कर्मों के विलक्षण अपरिगणित विचित्र फलों को जानता है और वहीं फलप्रदान की शक्ति भी रखता है, अतः उसका विधान ही धर्माधर्म में प्रमाण है, इसलिए हिन्दू वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों को ही अपना विधान मानते हैं और उस विधान के विपरीत परिवर्तन का अधिकार किसी का भी नहीं मानते। ईश्वर एवं उसके अवतार राम, कृष्णादि तथा वसिष्ठ, मनु आदि भी उसी का पालन करते हैं। उसमें परिवर्तन करने का अधिकार उन्हें भी नहीं, इसलिए निःश्वासवत् ईश्वरीयबुद्धि-प्रयत्नानपेक्ष होने से वेदों की अकृत्रिमता और अपौरुषेयता कही गयी है। फिर किसी अन्य व्यक्ति को तद्विरुद्ध विधान बनाने का तो हक ही प्राप्त नहीं है। इतना ही क्यों, प्रत्येक राष्ट्र तथा अन्तराष्ट्रिय जगत् का यह नियम है कि कोई भी शासन किसी भी धर्म पर हस्तक्षेप न करे। संयुक्तराष्ट्रसंघ की भी ऐसी ही घोषणा है। भारत के नवनिर्मित विधान की मूलभूत घोषणा में यह बात मान ली गयी है कि किसी धर्म पर सरकार की ओर से हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इतना ही नहीं,

ईसाई, मुस्लिम आदि धर्मों पर अहस्तक्षेप की नीति बर्ती भी जा रही है, परन्तु हिन्दुओं के धर्म पर हस्तक्षेप किया जा रहा है। फिर भी अहस्तक्षेप की नीति के पोषणार्थ कहा जाता है कि विवाह, दायभागादि धर्म ही नहीं, वे तो सामाजिक वस्तुएँ हैं। परन्तु स्पष्ट बात तो यह है कि तत्तद्धर्मों की व्याख्या तत्तत् सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों और धर्माचार्यों के अनुसार होनी चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म की व्याख्या जब हिन्दूधर्मग्रन्थों और हिन्दूधर्माचार्यों के अनुसार हो, तो स्पष्ट ही विदित होगा कि हिन्दूकोड के द्वारा हिन्दूधर्म पर आक्रमण किया गया है। आश्चर्य की बात तो तब होती है जब गोवध जैसे जघन्य कृत्य को मुसलमानों का धर्म मानकर उसे बन्द करने का साहस नहीं पड़ता, परन्तु हिन्दुओं के विवाह, दायभाग, मन्दिरादि शुद्ध धार्मिक वस्तुओं को भी सामाजिक कहकर उन पर बलात् आक्रमण किया जा रहा है।

(“हिन्दूकोडबिल प्रमाण की कसौटी पर” का प्रथम अध्याय)



धर्म का स्वरूप

यद्यपि धर्म का वास्तविक स्वरूप “चोदना लक्षणोऽर्थः” इस जैमिनि सूत्र के अनुसार विधिनिषेधात्मक वेद से ही प्रतिपाद्य है तथापि वेदों का प्रामाण्य न माननेवालों के लिए उक्त धर्म-स्वरूप का ग्राह्य होना असंभव है। फिर भी कुछ धर्म का स्वरूप सभी को मानना व्यवहार के लिए आवश्यक है। कोई प्रबल पुरुष किसी निर्बल की सुन्दर स्त्री या धन का अपहरण न कर ले, इसलिए सामाजिक अथवा राष्ट्रिय व्यवहार परिस्थिति को सुचारु रूप से चलाने के लिए विज्ञजन-समिति द्वारा निर्धारित नियम या कानून कुछ न कुछ मानने ही पड़ते हैं। वे नियम चाहे किसी दूसरे के नहीं, बल्कि नियम निर्माता के ही किसी परिस्थिति में प्रतिकूल हों, सहसा उनका परिवर्तन नहीं हो सकता। यह तो हुई भौतिक हानि-लाभ को सामने रखकर नियम निर्माण की आवश्यकता। दूसरी बात यह है कि कर्तव्याकर्तव्य के औचित्यानौचित्य निर्धारण के लिए समय विशेष अपेक्षित है। उसकी प्राप्ति के लिए स्वभाव से या कामादि दोष से प्राप्त वेग निवारक किसी अनिवार्य शृंखला की आवश्यकता होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि देशकाल भेद से कर्तव्याकर्तव्यों का भेद हुआ करता है। किसी देशकाल में कोई कर्तव्य अकर्तव्य और किसी में अकर्तव्य कर्तव्य समझा जाता है। किसी समय कोई वस्तु पथ्य होती है, वहीं समयानन्तर में कुपथ्य हो सकती है।

गिरी से गिरी हालत में भी प्राणी अपने हित या कल्याण की उपेक्षा नहीं करता। यह बात अलग है कि वह हिताहित विचार करने में असमर्थ होकर हित को अहित और अहित को हित समझकर प्रवृत्त या निवृत्त हो। बड़े से बड़े मान्यगण्य बुद्धिमान् भी जो समाज या राष्ट्र के कर्णधार समझे जाते हैं और जिनके निश्चय के अधीन ही जनता अपना कार्यक्रम निर्धारण करती है, कभी-कभी समाज या राष्ट्र की कल्याण-पद्धति निर्धारण करने में लगती कर जाते हैं, जिससे उनकी अनुगामिनी जनता को जनक्षय, धनक्षय और शक्तिक्षय आदि बड़े-बड़े अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि “जीवमात्र की प्रज्ञा परिमित अर्थ को ही निर्धारण करने में समर्थ होती है; क्योंकि अविद्या कर्मादि से सर्वार्थविभासनशाली चित्ततत्त्व समावृत्त होता है। जप, तप, धर्मानुष्ठानादि से जितनी मात्रा में जिसके अविद्यादि दोष का निराकरण होता है उतनी ही अधिक मात्रा में अनावृत्त चित्ततत्त्व सूक्ष्म अर्थ के विवेचन में समर्थ होता है। हम स्वयं ही अनुभव करते हैं कि जब हम अधिक कार्य में व्यग्र होते हैं, तब चंचलता तथा अनवधानता के कारण गम्भीर शास्त्रीय विषय अवगत नहीं होते। इसलिए कहना पड़ता है कि उस समय चंचलता के ही कारण उस विषय में हमारी बुद्धि ने काम नहीं दिया। ब्राह्ममुहूर्त में उसी अर्थ का विवेचन करें तो बहुत से विषय अवगत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि चंचलता आदि दोषों से प्राणी संकुचित विकासवाली प्रज्ञा से कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण नहीं कर सकता। इसलिए चंचलता आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने के लिए कोई अनिवार्य शृंखला होनी चाहिए।

काम-क्रोध के वेग से प्राणी कृत्य के औचित्य अथवा अनौचित्य का बिना विचार किये ही प्रवृत्त होकर अनेक प्रकार के अनिष्टों का भागी होता है। जब वेग शान्त हो तभी विचार का अवकाश प्राप्त हो सकता

है और हिताहित का विवेचन भी हो सकता है। बिना वेग शान्त हुए विचार करने पर तत्व का निर्धारण नहीं हो सकता। इसीलिए कहा है :—

बुद्धिश्चितयते पूर्वं स्वश्रेयो नावबुध्यते ।

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्या सुहृदो जना ॥ (भारते)

वेग यद्यपि स्वाधीन प्रवृत्ति से ही उत्पन्न होता है तथापि प्रवृत्ति के कर्ता को वेग के अधीन होना पड़ता है। यद्यपि दौड़ना अर्थात् जल्दी जल्दी पैर उठाना और रखना दौड़नेवाले के अधीन है, चाहे वह दौड़े या न दौड़े, तथापि दौड़ने के वेग की अभिवृद्धि में दौड़ने वाले की बहुत कुछ स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। इसीलिए दौड़ने वाले को अभिमत स्थल में रुकने के लिए पहले ही से वेगशान्ति के लिए गति को मंद करना पड़ता है। अन्यथा अभिमत स्थल पर रुकना असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि मन कुठारादिकरण के समान परतंत्र है, अर्थात् हम चाहें तो कुठार से वृक्षादि काटें या न काटें; कुठार स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह मन से चाहें तो मनन करें या न करें, परन्तु तब भी कर्ता की परतंत्रता अनुभव सिद्ध है।

हम चाहते हैं कि विषयों का चिन्तन करना छोड़ दें; परन्तु नहीं छोड़ सकते, यही तो वेग की महत्ता है। अनादि काल से हम मन से विषयों का चिन्तन करते चले आये हैं, इसी से वेग बढ़ गया है, अधिक काल की प्रवृत्ति से अधिक वेग बढ़ता है, अल्प काल की प्रवृत्ति से वेग भी अल्प ही होता है। अल्प वेग थोड़े प्रयत्न से शान्त भी हो जाता है, परन्तु बढ़े हुए वेग की निवृत्ति के लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। अदान्त अश्व जैसे धीरे-धीरे बड़ी युक्ति से दान्त किया जाता है, सहसा नहीं, वैसे ही वेगारूढ़ मन भी सहसा वश में नहीं आ सकता, किन्तु उसका कुछ अनुसरण तथा कुछ वृत्ति नियन्त्रित करने से वह वश

में आ सकता है। जैसे वेग-भरे प्रवाह वाली नदी को बिना विशेष युक्ति पूर्वक प्रयत्न के सहसा रोकना असम्भव है, परन्तु धीरे-धीरे बुद्धि से प्रवाह को अन्योन्यमुख कर स्वाभाविक प्रवाह को हटाते-हटाते सर्वथा निरोध हो सकता है; वैसे ही मन को भी धीरे-धीरे अभ्यास से रोका जा सकता है। राजमार्गों पर जहाँ कहीं कुछ खतरे का स्थल होता है वहाँ से कुछ दूर पर सावधानता सूचक कोई चिन्ह बड़े खंभे पर रख दिया जाता है, ताकि शीघ्रगामी मोटर आदि यानों पर आरूढ़ चालकों को खतरे का परिज्ञान हो जाय और वह वेगारूढ़यान को अपने अधीन कर सके। यदि दूर पर ही सूचकचिन्ह दृष्टिगोचर न हो तो खतरे के स्थल पर पहुँच कर वेगारूढ़यान सहसा अपने अधीन नहीं किया जा सकता। ठीक उसी तरह कर्तव्याकर्तव्य के विवेक के लिए भी कुछ समय चाहिए।

समय प्राप्ति के लिए वेग निरुद्ध होना आवश्यक है और उस वेग निरोधन के लिए कोई दृढ़ शृंखला होनी चाहिए। बस, इस शृंखला को ही प्रेक्षावान् धर्म कहते हैं। सारांश यह है कि काम-क्रोधादि जन्य उस वेग की शान्ति करने के लिए, जिससे प्राणी कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में असमर्थ होता है, दीर्घदर्शियों से निर्धारित धर्माधर्म के नियमरूप दृढ़ स्तम्भ या शृंखला होनी चाहिए, जिससे आगन्तुक अनिष्ट की संभावना से शान्तवेग होकर विचार करे। इससे प्राथमिक धर्म-लक्षण यही हो सकता है कि जिस देश, जिस काल, जिस जाति या सम्प्रदाय में दीर्घदर्शी, जो प्रायः वहाँ के वासियों के आदरपात्र हैं, उनसे निर्धारित कर्तव्याकर्तव्य ही उस देश, काल, जाति, सम्प्रदाय के व्यक्तियों के लिए धर्म है।

यद्यपि यह ठीक है कि धर्माधर्म में पारस्परिक बहुत वैमत्य है। कोई ठसी कृत्य को धर्म ठहराता है, दूसरा उसी को अधर्म सिद्ध करता है। ऐसी दशा में किसे आप्त और किसे अनाप्त माना जाय? भूत,

भविष्य, वर्तमान सभी विद्वानों का एकत्रित होना असंभव है। उनमें से किसी एक को सर्वज्ञ कहें, तो दूसरा सर्वज्ञ क्यों न कहा जाय, क्योंकि सर्वज्ञता हम लोगों की बुद्धि का विषय तो है नहीं? पदार्थों स्वभाव या गुण स्वतः तथा अनन्त पदार्थ के विलक्षण अनन्त पारस्परिक संश्लेष-विश्लेष से अपरिच्येय हैं। एक छोटे-से तृण में कितनी चीजों को उत्पन्न करने और कितनी को नाश करने की शक्ति है, इसका पूरा ज्ञान भी प्राणियों के लिए अशक्य है। दो-तीन विलक्षण तृणों के संयोग-वियोग से कितनी शक्तियाँ आभिर्भूत तथा उद्भूत होती हैं। फिर अनन्ततृण, उनके अनन्त संयोग-वियोग और उन संयोग-वियोगों से आविर्भूत तिरोभूत अनन्त शक्तियों का ज्ञान किसे और कैसे हो सकता है? इस तरह कौन-सा कृत्य किस काल या देश में कैसे इष्ट या अनिष्ट का सम्पादन करता है यह परिमित प्रज्ञाशाली पुरुष कैसे निर्धारण कर सकता है?

यदि कहा जाय कि परमेश्वर सर्वज्ञ है अतः उसके बनाये नियमों को ही शृंखला मानना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि पहले तो ईश्वर न मानने वाले सांख्य, मीमांसक आदिकों के यहाँ यह बात लागू नहीं होती। दूसरे ईश्वरवादियों में भी एक ईश्वर निर्णीत नहीं है, क्योंकि इसमें भी विप्रतिपत्ति ही है और वह प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है। शास्त्र के आधार पर ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। शास्त्र से ईश्वरसिद्धि या ईश्वर से शास्त्रसिद्धि, इस तरह अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जाता है। फिर कौन शास्त्र ईश्वर निर्मित है और कौन अनीश्वर निर्मित है, यह भी सहसा निर्णय होना असंभव ही है। ऐसी दशा में वास्तविक धर्म का स्वरूप कैसे निर्णीत हो सकता है? यदि कहा जाय कि पहले धर्म का ही निर्णय करना चाहिए। जब तक धर्म का निर्णय न हो, तब तक धर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। यह भी ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पूर्वकथनानुसार शृंखला बिहीन पार्श्विक प्रवृत्ति से प्राणी ऐसी हीनदशा

को प्राप्त हो जाता है कि विचार या निर्णय करने का उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहता। सामान्य बुद्धि से यह निर्णय सैकड़ों जन्म में भी नहीं हो सकता कि मिथ्याभाषण में या सत्य-भाषण में क्या गुण-दोष है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मिथ्या भाषण में या सत्य-भाषण में क्या गुण-दोष है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मिथ्या-भाषण व्यवहारबाधक, अविश्वास का हेतु है, सत्य भाषण ऐसा नहीं है। इससे भी सत्य केवल अविश्वास आदि का हेतु नहीं हुआ, परन्तु पुण्य का हेतु है, यह भी नहीं सिद्ध हो सका।

किसी को सुख पहुँचाना पुण्य और दुःख पहुँचाना पाप है, यह भी नहीं कहा जा सकता। नीति में चोर को दण्ड देना धर्म कहलाता है। संभोगादि द्वारा परपत्नी को सुख पहुँचाना धर्मज्ञों की दृष्टि में पाप समझा जाता है। यह कहा जा चुका है कि जब तक उच्छृंखल पाशविक प्रवृत्ति का निरोध न हो, तब तक किसी वस्तु का याथार्थ्य विचार द्वारा अच्छी तरह अवगत नहीं हो सकता। अतः वस्तु का विचार तभी हो सकता है जब किसी शृंखला द्वारा उच्छृंखल प्रवृत्ति निरुद्ध हो सके। कोई बालक आचार्य के किसी चिह्न को "क" ऐसा बतलाने पर प्रश्न करे कि इसे "क" क्यों कहते हैं, तो इसका उत्तर आचार्य क्या कभी दे सकता है? यदि समझाया जाय तो भी बालक क्या समझ सकता है? अभिप्राय यह है कि यदि प्रथम ही से हर एक बात पर बालक क्यों, कैसे इत्यादि तर्क ही करता जाय तो सैकड़ों जन्म में न वह समझ सकता है और न कोई उसे समझा ही सकता है।

अंततोगत्वा बालक परमोन्नति से वंचित ही रह जायगा। इसलिए प्रथम बालक को "ननु" "न च" किये बिना ही आचार्य के उपदेश को शिरोधार्य करना चाहिए। ऐसा होने पर वह थोड़े दिनों में विद्वान् बुद्धिमान्

होकर स्वयं ही समझ लेगा कि किसी चिन्ह "क" आदि कहने का क्या प्रयोजन है। ठीक इसी तरह यदि किसी शास्त्र या आचार्य की शृंखला से उच्छृंखल प्रवृत्ति का निरोध कुलमात्रा में हो जाय तो धीरे-धीरे विचार शक्ति का विकास होने से तात्त्विक वस्तु अथवा धर्म के विचार या ज्ञान का भी अधिकारी हो जायगा। अन्यथा शतजन्म में भी ये बातें असम्भव हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि किस शास्त्र या आचार्य के बतलाये नियम रूप शृंखला से नियमित प्रवृत्ति-सम्पादन करनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि जैसे हमें काशी जाना है, परन्तु जाने के लिए सामने तीन मार्ग उपस्थित हैं। तीनों ही मार्ग के चलने वाले यही बतलाते हैं कि जिस मार्ग से हम जा रहे हैं, वही मार्ग ठीक है। ऐसी दशा में जब जाना परमावश्यक है तब उस समय प्रेक्षावानों की बुद्धि तो यही निश्चय करती है कि इन तीनों मार्गों के पथिकों में जो हमारे देश, प्रान्त, नगर, कुटुम्ब के हों, या हमारे माता पिता गुरुजन हों, हमारे अधिक परिचित एवं विश्वासपात्र हों उसी पथिक के उपदेशानुसार मार्ग का ग्रहण ठीक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं है। ठीक इसी तरह जब आपके सामने अनेक धर्माचार्य या शास्त्र समुपस्थित हैं, तब पहले जो अपने परमहितैषी अन्तरंग, पिता, प्रपितामहादि से समादृत एवं उनके और अपने विश्वास के पात्र हों, ऐसे शास्त्र एवं आचार्य से निर्दिष्ट शृंखला का ही अवलम्बन समुचित प्रतीत होता है।

इसलिए कहा गया है कि व्यापक धर्म का प्राथमिक स्वरूप यही ग्राह्य और उपयुक्त है कि जिस देश-कालादि के पुरुषों से उत्कृष्टतया अभिमत जो पुरुष या शास्त्र है, उसी से उपदिष्ट नियम धर्म है। उन्हीं का समाश्रयण कर प्राणी उच्छृंखल पाशाविकी प्रवृत्ति को रोक कर सूक्ष्म अंशों का विवेक एवं तदनुसार कृत्यों का अनुष्ठान कर कल्याण की ओर अग्रसर

होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सम्यक् निर्भ्रान्त धर्म का परिज्ञान होने पर भी अन्यश्रद्धा से भ्रान्त धर्म में ही सदा निरत रहे। परन्तु जब तक निर्भ्रान्त धर्म का सम्यक् अपरोक्ष न हो तभी तक वैसा ही युक्त है, क्योंकि विचार करने से ज्ञात होता है कि सोपानारोह क्रम से अनेक धर्मों का समाश्रयण प्राणी को इस जन्म या जन्मान्तरों में करना पड़ता है।

धर्म शब्द का अर्थ 'ध्रियते अभ्युदयनिःश्रेयसादनेन' इस व्युत्पत्ति से अभ्युदयादि का साधन है। जिसने जिनती उन्नति को अभ्युदय मान रखा है, उस उन्नति का जितना प्रमाण सिद्ध साधन हो, उसके लिए उतना ही धर्म कहा जा सकता है। इस दृष्टि को लेकर चार्वाक भी धर्म से नहीं छूटते, क्योंकि उन्होंने भी विषयोपभोगादि को परमोन्नति माना है। अतः उसका प्रत्यक्षादि से निश्चित साधन कृषि, वाणिज्यादि है। एवं जिसने जिस प्रमाण से अभ्युदय का निश्चय किया है उसी प्रमाण से उसका साधन निश्चय किया है। लौकायतिक आदि प्रत्यक्ष सिद्ध उन्नति को ही अभ्युदय मानते हैं। अतः उसका साधन भी प्रत्यक्ष से ही निर्धारण करते हैं। जैन, बौद्धादि अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध उन्नति से विलक्षण पारलौकिक उन्नति को अभ्युदय मानते हैं। अतः उसके साधन भी अनुमान से सिद्ध मानते हैं। यद्यपि किसी न किसी शास्त्र का अवलम्बन वे लोग भी करते हैं तथापि उनका शास्त्र प्रत्यक्षानुमान से असिद्ध वस्तु को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता; क्योंकि शास्त्र निर्माता ने प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ही तत्त्वज्ञान सम्पादन कर शास्त्र का निर्माण किया है। इसीलिए उनके यहाँ प्रत्यक्ष अनुमान दो ही प्रमाण माने जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि संसार भर की सभी जातियों के लिए हिताहित अविवेक जन्य महान् अनर्थ से बचने के लिए तथा निर्विघ्न अभ्युदय सिद्धि के लिए कुछ न कुछ नियम स्वाभाविक प्रवृत्ति की निवारक शृंखला

रूप में मानने चाहिए। यह बात दूसरी है कि वह परस्पर विभिन्न या किसी अंश में विरोधी हो; क्योंकि अवनति, उन्नति अपेक्षाकृत होती है। कोई स्थिति किसी की उन्नति कहलाती और किसी की अवनति। अपने साम्प्रदायिक नियमों के अनुसार चलने वाला कोई व्यक्ति अपने समाज में उच्छृंखल प्रवृत्ति वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि उसकी स्थिति उच्छृंखल पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अन्यो की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है।

धर्म का उक्त लक्षण नीति के साथ भी बहुत अंशों में मिल जाता है। कारण कि जैसे अभ्युदय साधन को धर्म कहते हैं वैसे ही “नीयतेऽभ्युदयोऽनया” इस व्युत्पत्ति से नीति का भी अभ्युदय साधन ही अर्थ होता है। दोनों शब्दों का यदि एक ही अर्थ होगा, तब तो पर्यायवाचकता हो जायगी; परन्तु लोक में भिन्न-भिन्न प्रयोग दोनों शब्दों का देखा जाता है। अतः दोनों के अर्थों का भी भेद मानना आवश्यक है। इसलिए प्राधान्येन ऐहिक अभ्युदय के साधन को नीति और प्राधान्येन आमुष्मिक अभ्युदय के साधन को धर्म कहना चाहिए। प्राधान्य पद का अभिप्राय यही है कि नीति प्राधान्येन लौकिक अभ्युदय का साधन होते हुए भी आमुष्मिक अभ्युदय का भी साधन होती है, जैसा कि धर्मशास्त्रों में दण्ड्य को दण्ड देने से दण्ड्य दण्डयिता दोनों को ही स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। इसके उदाहरण महर्षि लिखित तथा इन्द्रधुम्न हैं। एवं आमुष्मिक अभ्युदय का साधन भी ऐहिक उन्नति में सहायक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीति आमुष्मिक अभ्युदय का साधन न हो, तो न सही; परन्तु आमुष्मिक अभ्युदय का व्यापादक नहीं हो सकती। ऐसा होने से उसे नीत्याभास ही कहना पड़ेगा। दीर्घदर्शी परिणाम में आदर दृष्टि रखने वाले होते हैं, अदीर्घदर्शी तात्कालिक फल के अभिलाषुक होते हैं। परिणाम में अनिष्टकर अभ्युदय वास्तविक में अभ्युदय नहीं किन्तु अभ्युदयाभास

हैं। अभ्युदयाभास का साधन भी नीत्याभास या धर्माभास होता है। दुर्योधन की नीति तात्कालिक फलद परन्तु परिणाम में सर्वस्वनाशक थी, अतएव वह धर्म विरोधिनी हुई। बुद्धिमान उसे कूटनीति या नीत्याभास कहते हैं। युधिष्ठिर की नीति यद्यपि प्रथम कुछ काल पर्यन्त कष्टप्रद थी परन्तु परिणाम में सर्वतोभावेन अभिवृद्धि की हेतु हुई। इसीलिए बुद्धिमान उसकी प्रशंसा करते हैं। द्वितीया की चन्द्रलेखा बहुत अल्पमात्रा में होती है, परन्तु अभिवृद्धि के उन्मुख है अतः प्राणियों से वन्द्यमान है। पूर्णिमा का पूर्णकलासंयुक्त चन्द्रबिम्ब भी प्राणियों से उतना वन्द्यमान नहीं होता, क्योंकि उसकी उन्नति की अवधि पूर्ण हो गयी और अब वह अवनति की ओर जाने वाला है। ठीक इसी तरह कोई नीति चाहे तत्काल दुःख तथा अवनति की जनक भी हो, परन्तु परिणाम में उन्नति की जनक हो तो यथार्थ नीति वही है। धर्म तथा नीति में इतना भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है कि नीति का देश-काल के भेद से सहसा परिवर्तन हो सकता है, परन्तु धर्म का किसी भी सिद्धान्त में सहसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि नीति का साध्य-साधन-भाव लौकिक है। वह सहसा बुद्धि से कुछ अंशों में समझा भी जा सकता है। परन्तु धर्म प्राधान्येन अदृष्ट भावों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसलिए उसका साध्यसाधन भाव चर्म चक्षुओं का गोचर नहीं हो सकता। उसके विचार करने वाले बड़े दीर्घदर्शियों की आवश्यकता होती है, अतएव उसमें परिवर्तन भी सहज नहीं है।

यह भी सत्य है कि पुरातन संस्कृति परिपोषकों के यहाँ भी काल भेद से धर्म का परिवर्तन होता आया है। किसी युग में मन्वादि प्रोक्त, किसी में याज्ञवल्क्यादि प्रोक्त, कलि में पराशर प्रोक्त धर्म का आदर स्मृति प्रोक्त है। युगभेद से धर्म का तारतम्य भी है। तथापि यहाँ यह विचार करना चाहिए कि परिवर्तन सावधि अर्थात् किसी हद तक अथवा निरवधिक होना चाहिए। दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि निरवधिक परिवर्तन

होने से तो विशृंखल प्रवृत्ति हो जायगी। फिर तो धर्म का प्रयोजन, जो पाशविकी उच्छृंखल प्रवृत्ति का निरोध है वह भी सिद्ध नहीं होगा। दूसरे यह नीति के भी विरुद्ध है। क्योंकि नीतिज्ञ भी यदि किसी के साथ सन्धि करता है, तो कुछ नियमों को दृढ़ रखता है कि जिनके टूटने से सन्धि तोड़ने में बाध्य होना पड़ता है, अन्यथा शनैः शनैः अन्य विपक्षी पराष्ट्र अपने समस्त राष्ट्र पर ही आक्रमण कर सकता है। अतएव अमुक अमुक नियम सन्धि में रखे जाते हैं जिनके टूटने से अन्य नीतियों का समाश्रयण करना होता है। जब लौकिक स्थूल कार्यों में उपयुक्त स्थूल दर्शनों से निर्धारित लौकिक नियम सहसा नहीं तोड़े जाते फिर तो परम सूक्ष्म धार्मिक नियमों का निरवधिक परिवर्तन कैसे किया जा सकता है ?

प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवधि निर्धारण करने वाला कौन हो सकता है ? यदि हर एक अवधि बनाने वाले हों तब तो जिसे जो अवधि अनुकूल हो वह वही अवधि बना लेगा, फिर भी शृंखला न रही। इसलिए जो सर्वदेश काल की परिस्थितियों को जानता हो वही तत्तद्देश कालानुकूल परिवर्तन कर सकता है। इस तरह अल्पज्ञ पुरुषों को परिवर्तन करने का अधिकार नहीं हो सकता। स्मृतियों के मतभेद का भी अभिप्राय यही है कि वेद रहस्यज्ञ सर्वज्ञ कल्प महर्षियों ने देशकाल की परिस्थिति जानकर भिन्न-भिन्न युगों के लिए धर्मों को व्यवस्थापित किया है। सो भी नित्य ही से तत्तद्युगों के लिए जो व्यवस्था है वही महर्षियों से प्रतिष्ठापित होती है। इसी रूप से धर्म की नित्यता भी है।

वैदिक स्मार्त धर्मों में कई धर्म तो सदा ही एक रूप में रहने वाले हैं, कोई देशकाल-भेद से कुछ संकोच विकासशाली भी हैं। इसीलिए जिन स्मृतियों का मूल वेद में नहीं उपलब्ध होता उनके वेदमूलकत्व का अनुमान किया जाता है 'इयं स्मृतिर्वेदमूलिका स्मृतित्वात् मन्वादि स्मृतिवत्।'

शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि "यद्वै मनुरवदत्तन्द्रेषजम्" अर्थात् जो कुछ मनु ने कहा वह सब भेषजरूप ही है। इससे मनु का प्रामाण्य सिद्ध होता है। अतएव जो स्मृतियाँ वेदविरुद्ध होती हैं, वह अप्रामाणिक समझी जाती हैं। इसी भाव का सूचक जैमिनि ने "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इस सूत्र से किया है। यदि कहा जाय कि आधुनिक बुद्धिमान् नेताओं से भी निर्धारित नियमों के भी वेदमूलकत्व का अनुमान किया जा सकता है तो यह ठीक नहीं। कारण यह है कि वेद, तदर्थग्रहण धारण तदर्शानुष्ठान करनेवाले निस्पृह पुरुष धैर्यों से ही निश्चित नियमों की वेदमूलकता अनुमित हो सकती है। आधुनिक ज्ञानलवदुर्विदग्ध रागद्वेषादि दूषित वेदशास्त्र विरोधियों द्वारा निर्मित नियमों की वेदमूलकता नहीं अनुमित हो सकती। धर्म की नित्यता भी प्रवाहरूप से ही है न कि कूटस्थरूप से। अन्यथा कूटस्थ नित्य होने से पुरुष व्यापार साध्यता नहीं होगी, क्योंकि जो वस्तु नित्य विद्यमान है उसके सिद्ध करने के लिए कारक व्यापार अपेक्षित नहीं होता। इसीलिए धर्म विद्यमान नहीं होता अपितु भव्य होता है। वह तो वर्तमानमात्र ग्राही प्रत्यक्ष का अविषय है। अनुमान से भी धर्माधर्म सामान्यभाव से ही अवगत होते हैं।

जिन बालकादिकों के सुख-दुःख का तारतम्य ऐहलौकिक हेतुओं के बिना ही देखा जाता है, उनका हेतु कोई वर्तमान देहव्यतिरिक्त देहकृत धर्माधर्म मानना ही पड़ता है। लोक में कोई भी कार्य निहेतुक नहीं देखा जाता। कितने स्थलों पर लौकिक हेतुओं की कल्पना नहीं बन सकती। कुछ प्राणी प्रयत्न करते हुए भी असफल देखे जाते हैं, कितने कुछ प्रयत्न बिना भी बहुधन-धान्य आरोग्यादि सम्पन्न देखे जाते हैं। एक ही राजा के साथ ही दो राजकुमार होते हैं। समानरूप से उनका लालन-पालन होता है, तो भी कोई हृष्ट-पुष्ट प्रसन्न और दूसरा अनेक रोग दोषों से परिप्लुत होता है। यदि वर्तमान देहवर्ती सुख-दुःख बिना हेतु के होते हों

तब तो अकृताभ्यागम दोष अनिवार्य होगा। एवं यदि यह शरीर निहंतुक है तब तो इसका नाश भी होना असम्भव है और इस देह से किए कर्मों का भी बिना फल भोगे ही क्षय हो जायगा। इसलिए कृतविप्रणाश दोष हो जायगा। लोक प्रसिद्ध दुष्कृत्यों का भी दण्ड भोगना अनुपपन्न होगा। इस तरह यद्यपि सुख-दुःख का कुछ हेतु विशेष अवगत होता है तथापि वह क्या है? यह अनुमान से नहीं किन्तु शास्त्र से ही जाना जा सकता है।

अब यहाँ से धर्म का वास्तविक स्वरूप दिखलाने के लिए कुछ दार्शनिकों की धर्माधर्मविषयक विप्रतिपत्तियाँ दिखलाते हैं। शुभाशुभ कर्मों की वासना से वासित परमाणु धर्म है ऐसा विवसन (जैनियों) का कहना है। क्षणिक विज्ञानसन्तति के आश्रित वासना ही धर्म है यह सौंगतों (बौद्धों) का कहना है। योगादि या ब्रह्मवधादि से धर्माधर्मरूप वृत्तिविशेष धर्माधर्म है, यह सांख्यावादियों का मत है। - विहित प्रतिसिद्ध कर्मों से पुरुष के ही गुण विशेष ही धर्माधर्म है यह नैयायिक वैशेषिकों का मत है। अपूर्व ही धर्माधर्म है, यह प्राभाकरादिकों का कहना है। वेदों से बोधित 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' इस जैमिनि सूत्र से प्रवर्तित वेदशास्त्र वाक्य से बोधित सम-द्वेष रहित सत्पुरुषों से सेवित होम याग दानादि ही धर्म है।

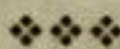
आचार्यों ने निष्कर्ष यह निकाला है कि "बलवदनिष्ट प्रयोजकत्वे सति श्रेयः साधनतया वेद प्रत्यायितत्वम्" अर्थात् जो बलवान् अनिष्ट का हेतु न होकर वेदों से बोधित श्रेयस्कर साधन है वही धर्म है। बलवान् अनिष्ट का हेतु नहीं, इसके कहने का अभिप्राय यही है कि शत्रुमरण के हेतु वेद बोधित श्येनादि याग हैं परन्तु वह शास्त्रों से शत्रुमरणरूप फल की अपेक्षा बलवान् अनिष्ट का हेतु है। अतः वह धर्म नहीं है। यदि ज्योतिष शास्त्रादि से भावी पुत्र की दुर्वृत्तियाँ ज्ञात हो जायँ तो उसके लिए पुत्र्येष्टि आदि भी धर्म नहीं है। जिसके मार्ग कूप खनन में गोपतन निहित

है वह धर्म नहीं हो सकता। वेद बोधित कहने का अभिप्राय यह है कि भोजनादि बलवान् अनिष्ट का हेतु भी नहीं और श्रेय साधन भी है तो भी धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें प्राणी की स्वभाव से ही प्रवृत्ति है। उसके बोधन के लिए वेद की आवश्यकता नहीं है। इस तरह सिद्ध हुआ कि वेदों से बोधित श्रेय का साधन, अनिष्ट का अहेतु वर्णाश्रमानुसार सभी कृत्य ही धर्म है। इससे विपरीत बलवान् अनिष्ट के हेतु वेदों से निषिद्ध कृत्य अधर्म है।

चत्वारि कर्माण्यश्रेयःकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथा कृतानि ।

मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतभुतमान यज्ञः ॥

(सिद्धान्त वर्ष २, पृ० २६-२७, ३४-३५)



बुद्धि और शास्त्र

कहा जाता है कि 'सच्चारित्र्याच्च सद्वृत्तात् यशसा च बहुश्रुतेः ।

तप्ते विद्या समायुक्तोऽयमेवाध्यात्मवित्तमः ॥' इत्यादि वचनों से अध्यात्मवित्तम का निर्णय भी महाजन ही कर सकते हैं। 'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनोयेन गतः स पन्थाः ॥' यह श्लोक इस में प्रमाण है। यहाँ महाजन का अर्थ जनसमूह या लोकमत है, क्योंकि 'एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः, देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यस्तु परावरजः । स यत्रतत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ।' इत्यादि स्थल में महाजन समूह में महाजन शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यह मान्य है, यह आत्मज्ञानी है, इसकी बुद्धि सर्वहितकारिणी है' यह सब कुछ महाजन-बुद्धि ही निर्णय करेगी। अपने निर्णेतव्य अर्थ में अपनी बुद्धि प्रमाण नहीं होती, किन्तु समष्टिबुद्धि ही प्रमाण होती है। समाज धर्म के पतित होने पर समाज बुद्धि ही प्रदर्शिका होगी। सब की सम्मति से निर्णीत मार्ग से ही लोकसंग्रह हो सकता है, इत्यादि।' परन्तु यह आपात (अविचारित) रमणीय है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि महाजन किसी प्रमाण का आश्रय लेकर सच्चरित्रता इत्यादि का निर्णय करेगा या स्वतन्त्र? यदि पहला पक्ष मान्य है तो वह प्रमाण ही क्यों नहीं बतलाया जाता? यदि दूसरा पक्ष मान्य है, तो देशकालादिभेद से महाजन भी भिन्न-भिन्न होंगे, अतः सच्चरित्रता का भेद होना अवश्यम्भावी है। चरित्र-वृत्तादि की

समीचीनता असमीचीनता यदि महाजन-बुद्धि के अधीन रहेगी, तो महाजनों तथा उनकी बुद्धियों के भेद से एक ही चरित्र तथा एक ही वृत्त समीचीन एवं असमीचीन दोनों हो जायगा। लोकमत कभी आस्तिकों तथा कभी नास्तिकों के अनुकूल होता है। कभी किसी महाजन की दृष्टि में जो सद्वृत्त, सच्चरित्र होता है, वही उस समय दूसरे महाजन की दृष्टि में असद्वृत्त तथा असच्चरित्र हो सकता है। यह सुप्रसिद्ध है कि पहले ईसाई-धर्मप्रवर्तक ईसामसीह का वध ही उचित समझा गया था, दूसरे समय में दूसरे महाजन की दृष्टि में उनका अनुगमन ही प्राणियों का कल्याणकारण निश्चित किया गया। इसलिए जब व्यष्टि-बुद्धि की ही एकरूपता नहीं होती, तब समष्टिबुद्धि की ही एकरूपता नहीं होती, तब समष्टिबुद्धि की एकरूपता कबमपि सम्भव नहीं है। लेखक तथा प्रवक्ता इत्यादि की बुद्धि के अनुसार महाजन का प्रमाणविहीन अनेकरस निर्णय अन्धपरम्परा निर्णय है। जैसे एक आँख वाले के सामने हजारों अन्धे अप्रमाणित हो सकते हैं। इसमें 'अन्धस्येवान्धलक्षस्य विनिपातः पदे पदे' (अन्धे के पीछे चलने वाले हजारों अन्धों का पद-पद पर विनिपात निश्चित है) इस न्याय से सन्मार्ग को भी अन्धपरम्परा द्वारा अतिक्रमण करने वाले असत्पुरुष असन्मार्ग को अनुवर्तन करते हुए देखे जाते हैं।

वस्तुतः "महाजनो येन गतः स पन्था" में महाजन पद से श्रुति-स्मृति-मुनि-वचनानुसारी स्वसाम्प्रदायिक कुलीन वृद्धों का ही ग्रहण किया गया है। यह श्लोक श्रुति-स्मृति-मुनि-वचनों का अप्रमाण्य सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ है, यदि ऐसा माना जायगा, तो यह श्लोक स्वयं ही अप्रमाण हो जायगा। इसका प्रामाण्य तो श्रुत्यनुकूल मुनिवचनत्वेन ही है। यह श्लोक उन श्रुति-स्मृति-मुनि-वचनों के विरोधपरिहारपूर्वक समन्वय के लिए प्रवृत्त हुआ है, ऐसा मानने से ही यह श्लोक सार्थक हो सकता है। "उदिते जुहोति", "अनुदिते जुहोति", इस श्रुति के प्रत्यक्ष विरोध में भी सम्प्रदाय भेदेन विरोधपरिहार होता है और उदित पक्षवाला उदित में ही

तथा अनुदित पक्ष वाला अनुदित में ही हवन करता है। एक-एक पक्ष को निष्ठा को दृढ़ के लिए ही इतरेतर की निन्दा की जाती है। संसार में ही देखा जाता है कि जिसको अवश्य गन्तव्य स्थान पर जाना है, वह अनेक मार्गों को तथा उन मार्गों से जाने वाले को यही मार्ग अच्छा है, अन्य मार्गों में सिंह-व्याघ्रादि तथा कण्टकाकीर्ण गर्तादि हैं, ऐसा कहनेवाले पुरुषों को देखकर भ्रम में पड़ जाता है और उसके निर्णय के लिए आत्मीय, स्वदेशी, स्वप्रान्तीय नागरिक या कुल-वृद्धों को जिस मार्ग से जाता हुआ देखता है, उनका अनुसरण कर उसी मार्ग से चलता है। इसी तरह कल्प, स्मृत्यादि का विरोध होने पर सम्प्रदायादि भेद से व्यवस्था करनी चाहिए। इन दोनों मार्गों के विरोध में किस मार्ग से जाना चाहिए, ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर अपने महाजन कुल-वृद्ध जिस मार्ग से गये हों, उसी रास्ते से जाना चाहिए ऐसा निर्णय होता है।

वृद्धि भी शास्त्रानुसारी ही होने चाहिए। यदि लोकमत से ही सिद्ध निर्णय किया जायगा, तो लोकायतिकसम्मत देहात्मवाद का ही सिद्ध निर्णय किया जायगा, तो लोकायतिकसम्मत देहात्मवाद का ही विजय होगा। प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मात्मवादी आज भी थोड़े हैं। संसार में सदैव अज्ञानी अधिक रहेंगे। शिक्षा प्रचार होने पर भी ज्ञानदौर्बल्य ही रहेगा। इसीलिए कट्टर लोकतन्त्र समर्थक भी दुश्चिकित्स्य व्रण होने पर उस विषय के विशेषज्ञ डाक्टर इत्यादि को नियुक्त करता है, सर्वसाधारण की वहाँ सम्मति नहीं ली जाती। शिष्यों और वृद्धों का आचरण भी शास्त्रानुसारी ही आदरणीय है, शास्त्रविरुद्ध नहीं। इसलिए “यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि” इस श्रुतिप्रमाण से भी शास्त्रानुमत वृद्धाचार ही आदरणीय कहा गया है। जैसे उदित-मोहपक्ष साम्प्रदायिकों से अनुसृत और शास्त्रानुमत होने से ग्राह्य है, इसमें “येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः” इत्यादि शास्त्र प्रमाणों से यह कहा गया है कि पिता-पितामहादि द्वारा अनुमत मार्ग का अनुकरण करना चाहिए।

अपने-अपने निजी कार्य में भी शास्त्रपरतन्त्र ही बुद्धि प्रमाण है। शास्त्र विपरीत अपना-अपना निजी स्वतन्त्र अनुभव भ्रम होता है। "महाजन" शब्द का उक्त साहित्य के उदाहरणों में विशिष्ट जनसमुदाय ही अर्थ है। यदि "जन" शब्द का ही समूह अर्थ है, तब "महत्" इस विशेषण की क्या आवश्यकता थी? यदि समूह का भी महत्व विवक्षित है, तो वह महत्व क्या समूहियों के महत्व से है या समूह के महत्व से? पहले में शास्त्रानुसारी विशिष्ट जनसमुदाय ही "महाजन" शब्द का अर्थ है। द्वितीय में महत्व निरतिशय विवक्षित है या सातिशय? यदि निरतिशय विवक्षित है, तो कोई भी सिद्धान्तनिरतिशय बहुत समूह को अभिनत है यह दुर्ज्ञेय ही है। सातिशय में कोई प्रमाण नहीं। दम्भी को भी संसार ज्ञानी मानकर पूजता है तथा ज्ञानी को अज्ञानी समझ कर उसकी उपेक्षा करता है। इसलिए संसार को ज्ञानी-अज्ञानी का भी पता नहीं है। इस अर्थ में "लोकदृष्ट्या तु बुद्धोऽयं जडोन्मत पिशाचवत्" यह आप्तोक्ति भी प्रमाण है और "ज्ञानिनां हृदयं मूढैर्ज्ञातिंचेदस्तु वै जगत्" यह श्रुति-प्रमाण भी है। किन्तु ज्ञानी की गति ज्ञानी ही जानते हैं। इसमें "तादृशानां गतिं तां-तां तादृशा एव जानते" यह अभियुक्तोक्ति प्रमाण है।

कहीं पर महाजन शब्दार्थ जनसाधारणसमूह भले ही हो, पर "महाजन येन गतः स पन्थाः" में तो यह अर्थ विवक्षित नहीं है। यदि यही अर्थ विवक्षित माना जाय, तो महाजनाभिमत देहात्मवाद और स्वार्थपरायणतादि सर्वत्र आदरणीय हो जायेंगे। बहिर्मुख महाजन की दृष्टि में तो धर्म तथा ब्राह्मण और तदुद्धोदक शास्त्र भी उपेक्षित माने जा सकते हैं। "प्रायेण वेद तदिदं न महा जनोऽयं देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम् । त्रय्यां जडोक्तमतिर्मधुषितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ।" श्रीमद्भागवत आदि के इन श्लोकों में भी "महाजन" शब्द का अर्थ वैदिक शिष्ट ही ग्रहण किया गया है।

(सिद्धान्त वर्ष ७, अंक २६)



दर्शन की परिभाषा

यूनानी "फिलासफस" शब्द ज्ञान और प्रेम के अर्थ में प्रयुक्त होता था। उस के आधार पर अंग्रेजी का "फिलासफी" शब्द प्रचलित हुआ। यद्यपि सविस्तार मीमांसा या विवेचना ही इसका अर्थ है, फिर भी विषय-विशेष के संक्षिप्त विचार-दर्शन के लिए भी "फिलासफी" शब्द व्यवहृत होता है। आजकल तो दर्शन की एक-एक शाखा के लिए भी "फिलासफी" शब्द का प्रयोग होता है। कई आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् विशेषकर कम्युनिष्ट, जीवन के दृष्टिकोण को ही दर्शन मानते हैं। उनके मत में "दर्शन" युगंधारा का परिचायक होता है। युगसंघर्ष से ही उसका जन्म हुआ है। दर्शन का उसके निर्माताओं के जीवन की घटनाओं से भी सम्बन्ध होता है। अफलातून (प्लेटो) राजकुल में शिक्षक था, इसलिये उसके दर्शन में राज-सम्बन्ध का असाधारण प्रभाव है। हेराक्लिटस दलितवर्ग में पैदा हुआ, इसलिये उसका दर्शन परिवर्तन प्रवर्तक हो गया; क्योंकि दलित करनेवाली दूसरी श्रेणी का परिवर्तन आवश्यक था। हेलूमूसियस मध्यम श्रेणी का प्रतिनिधि था और कार्ल मार्क्स उदीयमान श्रमिकों का; इसलिये उन-उन के अनुसार उनके दर्शन भी बने। असाधारण विप्लव काल में मार्क्स का जन्म हुआ। फलतः उसका जीवन क्रान्तिकारी रहा और वैसा ही उसका दर्शन भी।

यद्यपि अंशतः यह ठीक है तथापि यह स्वाभाविक स्थिति है। ऐसे

विचारों का "दर्शन" नाम नहीं दिया जा सकता; क्योंकि इनमें भावनाओं का ही प्रधान्य है। पर भावनाएँ "दर्शन" नहीं होती। भावना के प्रबल्य से तो कर्म विधुर-परिभावित कान्ता का भी साक्षात्कार हो जाता है। परिस्थिति का प्रभाव विचारों पर होने से उनकी यथार्थता में संदेह होना स्वाभाविक ही है। स्पष्ट है कि पित्तरोगयुक्त रसना से गुड़ की मधुरता का ठीक अनुभव नहीं हो सकता। पित्तयुक्त नेत्र से श्वेत शंख भी पीत प्रतीत होता है। सर्पदष्ट व्यक्ति कटु निम्ब को भी मिष्ट समझता है। नीले-पीले उपनेत्रों (चश्मों) से वस्तु नीले-पीले रूप में प्रतीत होती है। कामी संसार को कामिनीमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखता है। निम्ब के कीट को मिश्री की मिष्टता के अनुभव में पर्याप्त कठिनाई होती है। नमक के पर्वत पर रहने वाली चींटी मिश्री के पर्वत पर जाकर मिश्री की मिठास का तबतक अनुभव नहीं कर सकती है जबतक कि अपने मुँह से नमक के कणों को निकाल न दे, ठीक उसी तरह व्यक्ति राग-द्वेष, सम्पत्ति-विपत्ति, व्यक्तिगत परिस्थिति तथा वातावरण के प्रभाव से तपस्या, सदाचार, निःस्पृहता एवं योगाभ्यास आदि के सहारे जबतक ऊँचा नहीं उठ जाता तबतक सूक्ष्म विषयों का यथार्थ ज्ञान कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

भारतीय दृष्टि से पवित्र विचार अर्थात् धर्म, ब्रह्मादि पवित्र वस्तु सम्बन्धी कल्याणकारी पवित्र विवेचन मीमांसा है— "माने जिज्ञासायाम्" और वस्तुतत्त्व परम सत्य का निर्दोष प्रमात्मक अनुभव कराने वाला विचार "दर्शन" कहा जाता है— "दृश्यते वस्तु यथात्म्यं अनेन इति दर्शनम्।" दूसरे शब्दों में प्रमाण द्वारा आत्मानात्मा का ज्ञान जिससे होता है उसका नाम "दर्शनशास्त्र" है। प्रमाण अज्ञातज्ञापक होता है, अकृतकारक नहीं। ज्ञान कर्म के समान पुरुष के अधीन नहीं होता। कर्म करने, न करने, उलटा करने में पुरुष स्वतन्त्र है, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। प्रमाण प्रमेय का परस्पर सम्बन्ध हो जाने पर इच्छा न

रहने पर भी दुर्गन्धादि का ज्ञान होता ही है। दर्शन प्रमाण-परतन्त्र होता है। प्रमाण अनुरोधक-विरोधक सभी प्रकार के होते हैं। उनमें प्रत्यक्ष अनुमान और आगम मुख्य हैं, प्रत्यक्षानुमान का भी आगमानुसरण आवश्यक है। इसके बिना कितने ही अनुमानाभास भी अनुभव के रूप में सामने आते हैं। उदाहरणार्थ कोई नरशिर के कपाल की हड्डी को प्राण्यङ्ग समझ कर शंखतुल्य पवित्र मान सकता है। पर यह अनुमानाभास है। अतएव पवित्र बुद्धि के मनुष्य “नरशिरः कपालं शुचिः प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्” इस अनुमान का तिरस्कार कर “नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्” इस आगमानुसार जुगुप्सित नरशिर की अस्थि का स्पर्श हो जाने पर सचैलस्नान कर अपने को पुनः शुद्ध करते हैं।

कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि “मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यह विश्व क्या है” आदि का चिन्तन तथा विवेचन “दर्शन” है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् प्रकृति तथा उसके व्यापार का अध्ययन एवं उसके भीतर एकता देखने को दर्शन कहते हैं। पर इन मतों में भी आंशिक सत्यतामात्र है। सभी दर्शन सभी विषयों में आदरणीय भी नहीं हो सकते। जैसे अंधों ने हाथी के जितने अंग जिस रूप में अनुभव किये उसी ढंग से उसका वर्णन किया। न इसे सम्पूर्ण मिथ्या ही कहा जा सकता है और न पूर्णतया सत्य ही। विशेषतया पाश्चात्य दर्शनों के सम्बन्ध में तो अत्यन्त वैरूप्य है। भारतीय दर्शनों में यद्यपि इतना अधिक वैरूप्य नहीं है। क्योंकि उनके प्रमाण अनादि-अपौरुषेय वेद, तदाधारित शास्त्र, योगज ऋतम्भरा-प्रज्ञा तथा लौकिक प्रत्यक्षानुमान हैं तथापि यहाँ भी सभी विषयों में सभी ऋषियों का समान आदर नहीं, अपितु जिस विषय में जिस ऋषि ने धारणा, ध्यान, समाधि आदि द्वारा तत्त्वानुभूति प्राप्त की, उसी विषय में उसका सार्वभौम आदर है। जैसे शब्द के सम्बन्ध में पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि एवं वाक्य विचार आदि में जैमिनि, व्यास आदि का प्रामाण्य है।

पाश्चात्य-दर्शनों में अधिकांश का जन्म कुतूहल-बुद्धि एवं ज्ञान-पिपासा-शान्ति की दृष्टि से ही हुआ है। अनेक पाश्चात्य-दर्शनों का प्रादुर्भाव राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी हुआ है; किन्तु भारतीय दर्शनों का अन्तिम उद्देश्य दुःख-निवृत्ति, मृत्यु-विजय तथा मोक्ष-प्राप्ति ही है, अवान्तर उद्देश्य अर्थ-काम-धर्मार्जन भी है।

वेदान्त में ज्ञानस्वरूप आत्मा निर्विकार है। मन, अंतःकरण आत्मा से भिन्न प्रकृति है। चित्त अहंकार आदि के समान ही पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ भी प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों से ही बनी हैं। स्थूल देह से भिन्न पंचप्राण सहित उक्त मन, बुद्धि चित्त, अहंकार एवं कर्म-ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर सूक्ष्म या लिङ्गशरीर कहा जाता है। स्थूल देह के नष्ट होने पर भी यह देह नष्ट नहीं होता। सृष्टि से लेकर प्रलय काल तक यह सूक्ष्म देह रहता है। इसी आधार पर व्यापक आत्मा का गमनागमनादि बनता है। इससे भिन्न एक रजस्तमोलेशानुविद्ध अतएव अविशुद्ध सत्त्वप्रधान अविद्यारूपी कारण शरीर भी मान्य है, जिसका तत्व साक्षात्कार से ही बोध होता है। इस तरह वह अनादि, सान्त है। मूल प्रकृति भी अनादि, सान्त है। सम्पूर्ण प्रपंच पंचभूतात्मक है। उन भूतों की ग्राहक इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म भूतों का ही परिणाम है। भिन्न कारणों में स्वकार्यानुकूल शक्ति होती है। इसी तरह ब्रह्म में भी सर्वप्रपंचोत्पादक शक्ति होती है। इसी को मूल प्रकृति कहा जाता है। चेतन ईश्वर सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी होता है। कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के समान ही संसार का सृष्टि-प्रलय होता है। संसार का कर्म के साथ असाधारण सम्बन्ध है। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति संसार का चरम लक्ष्य है। वस्तुतः इन सभी विषयों का विवेचन "दर्शन" में आ जाता है।

(माक्सवाद और रामराज्य, पृ० १-४)



धर्म और नीति

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के धारण-पोषण करने वाले तथा संघटन, सामंजस्य, शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी और परिणाम में भी जो अहितकर न हों, ऐसे नियमों को ही 'धर्म' कहा जाता है। अतएव अभ्युदय (ऐहलौकिक-पारलौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति जिससे हो वही धर्म है— 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', 'धारणाद्धर्मः।' यह भी धर्म के तटस्थ लक्षण है। परन्तु किन साधनों से अभ्युदयादि की सिद्धि होती है, अतएव कौन-कौन कर्म धर्म हैं, इसका पूर्णरूप से ज्ञान अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों से ही हो सकता है। इसलिए राष्ट्र के धारण-पोषणानुकूल शास्त्रसम्मत वेद, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की हलचलें या व्यापार ही धर्म है। इसी में यज्ञ, तप, दानादि तथा सभी वर्णधर्म, आश्रमधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। 'नीति' शब्द का भी अर्थ प्रायेण वही होता है। अभ्युदय प्राप्ति जिससे हो, वही नीति है। 'धृञ्-धारणे' धातु से 'धर्म' और 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'नीति' शब्द सिद्ध होता है— 'ध्रियतेऽभ्युदयोऽनेनेति धर्मः', 'नीयते प्राप्यतेऽभ्युदयोऽनयेति नीतिः।' अर्थात् अभ्युदय का धारण जिससे हो, वही 'धर्म' और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो, वही 'नीति' है। फलतः दोनों का एक ही अर्थ होता है। इसलिए कुछ लोग तो नीति को ही धर्म कहते हैं। पर कुछ लोग लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति'

और पारलौकिक उन्नति के साधन को 'धर्म' कहते हैं। यह विभाग भी प्रधानता और अप्रधानता की ही दृष्टि से है। धर्म से पारलौकिक उन्नति प्रधानरूप से और गौणरूप से लौकिक उन्नति भी होती है। इसी तरह नीति से लौकिक उन्नति प्रधानरूप से और अप्रधानरूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है। धर्म और नीति का परस्पर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते हैं, नीति के बिना शास्त्र और धर्म नष्ट हो जाते हैं— 'नश्येत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।' नीति से ही सामाजिक सुव्यवस्था, शान्ति होने पर धर्म के अनुष्ठान में सुविधा होती है और धर्म-भावना फैलने से ही नीति भी कार्य्यान्वित एवं सफल होती है। अहिंसा और सत्य की भावना से राजा-प्रजा, मजदूर-पूंजीपति सभी में सद्भावना फैलती है। धर्म-भावना से ही परोक्ष में भी राजा-प्रजा अन्याय, अत्याचार से बचने का प्रयत्न करते हैं।

वास्तव में धर्म नीति का पति है। उससे विरहित होकर नीति विधवा है। बिना धर्मरूप पति के विधवा नीति पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती। उसमें फलोत्पादन की क्षमता नहीं रहती। वैधव्य में वह केवल बिलबिलाती है, असफल होकर विलाप करती है। धर्मविरुद्ध नीति कहीं तत्काल अभ्युदय का साधन होती हुई भी परिणाम में अहितकारिणी सिद्ध होती है। दुष्परिणाम-शून्य वास्तविक अभ्युदय के साधन को ही नीति कहा जा सकता है। जो परिणाम में अनिष्टकर हो, वह सच्चा अभ्युदय नहीं, केवल अभ्युदयाभास है, अतः उसका साधन भी नीति नहीं केवल नीत्याभास है। अर्थानुबन्ध, धर्मसम्बन्ध अभ्युदय ही सच्चा अभ्युदय है। अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध या अनुबन्ध अभ्युदय देखने भर को अभ्युदय है। विष से मिला हुआ मधुर पक्वान्न सेवन में तात्कालिक आनन्द देनेवाला होने पर भी मृत्यु का कारण होता है, यह स्पष्ट ही है। धर्मविहीन नीति आरम्भ में भले ही चामत्कारिक सफलता दिखलाये पर अन्त में वह पतन की ओर ही ले

जायगी। समस्त 'महाभारत' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। धर्मविरुद्ध साम्राज्य का उपभोग मिल गया, पर अन्त में पूर्ण पतन ही हुआ। धर्मनीति के अनुयायी बनकर युधिष्ठिर को १४ वर्ष वनों में भटकना पड़ा, पर अन्त में साम्राज्य सिंहासन प्राप्त हुआ। इतिहास, पुराणों में सर्वत्र यही दिखलाया गया है कि 'यतो धर्मस्ततो जयः।'

अपने यहाँ नीति साहित्य की कमी नहीं है। शुक्र, कौटिल्य, कामन्दक आदि की नीति के सामने पाश्चात्य नीति तुच्छ जँचती है। कहा तो यह जाता है कि नाजियों ने बहुत कुछ अर्थशास्त्र से सीखा है। कूटनीति के ऐसे दावपेंच बतलाये गये हैं, जिन्हें देखकर हैरान होना पड़ता है। यदि तुलना की जाय तो पाश्चात्य कूटनीति के प्रसिद्ध आचार्य मैकेवेली को कौटिल्य के आगे सिर झुकाना पड़ेगा। परन्तु भेद इतना ही है कि हमारे यहाँ के नीतिज्ञों ने कभी भी धर्म को नहीं भुलाया। स्वयं कौटिल्य ने लिखा है— 'संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्।' 'सर्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः सङ्कगदुच्छिद्येत।'।

परन्तु इसका ध्यान न रखने का भी फल यह होता है कि आज पचासों वर्ष का हमारा प्रयत्न विफल रहा है। हमारी कोई भी नीति कारगर नहीं हो रही है। जो कुछ भी हम करते हैं, उसका फल उलटा ही होता है। आज के बड़े-बड़े नेता जिस नीति का आश्रय लेकर देश को सुखी और समृद्ध बनाना चाहते हैं, वह भारत की नीति नहीं है। वास्तव में तो हम पाश्चात्य उच्छिष्ट नीति के अनुसरण में ही सारा जोर लगा रहे हैं। अपने प्राचीन नीति-साहित्य की ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता है। यदि उसे अपनायें तो फिर धर्म-विमुखता भी न रहे और धर्म का आश्रय लेने पर सफलता बनी बनायी है। धर्मविमुख होकर आज सारा विश्व पतन की ओर बढ़ रहा है, तरह-तरह के "वादों" के बादल छाये हुए हैं, उनमें से

जीवन प्रदान करनेवाले जल की एक बूँद नहीं टपकती, होती है केवल घोर गर्जना और पत्थरों तथा बिजली की मार। हम तो आज सब तरह से असमर्थ हैं। बाहुबल नहीं, शक्ति बल नहीं, बुद्धिबल नहीं, कुछ भी नहीं है। ऐसी दशा में हम कर ही क्या सकते हैं? हाँ, एक मार्ग हमारे सामने अवश्य है और वह है सर्व शक्तिमान् का सहारा। जितने भी आज हमारे प्रयत्न हो रहे हैं, उनके साथ यदि हम भगवान् की प्रार्थना जोड़ दें तो हमारा मार्ग स्वतः साफ होता जायगा। उससे हमारा ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण होगा। भारत के महापुरुषों का यह आदर्श सिद्धान्त रहा है कि “सर्वे भवन्तु सुखिनः।” इसी दृष्टि से सदा उनकी प्रार्थना होती रही है। आज भी इसी की आवश्यकता है। यदि नियमपूर्वक इसके लिए प्रयत्न किया जाय तो सफलता अवश्यम्भावी है।

(सिद्धान्त, वर्ष २, अंक ४३)



धर्म ही राष्ट्र के सुसंघटन का मूल है

परलोक अभीष्ट फल प्रदान करने वाले सन्ध्या, जपादि धर्म का अनुष्ठान तथा अनिष्टप्रद सुरापान, अनृत आदि का परिवर्जन तो नास्तिकों को भी करना चाहिए। फल के सन्देह में भी कृषि, व्यापार आदि कार्य किये ही जाते हैं। इस तरह परलोक के सन्देह में भी धर्म करना ही चाहिए। यदि परलोक में धर्म की अपेक्षा हुई, तब तो न करनेवाला पछतायेगा तथा करनेवाला आनन्दित होगा, और यदि धर्म की कुछ अपेक्षा न हुई, तो भी करने वाले की कोई हानि नहीं। किसी दूर जंगली प्रदेश में जाना हो तो भोजन-सामग्री और रक्षा का साधन अस्त्र-शस्त्रादि हुआ तो वे काम आयेंगे, नहीं तो पछताकर प्राण गँवाना पड़ेगा। परन्तु सामग्री रहने पर यदि आवश्यकता न भी हुई तो भी कोई हानि नहीं। यद्यपि अनादि काल से आस्तिक-नास्तिक का शास्त्रार्थ चलता है, कभी नास्तिकों का और कभी आस्तिकों का पराजय होता है। कोई भी मत अत्यन्त खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। सर्वत्र पराजय होने पर भी मति का ही दीर्घल्य समझा जाता है न कि मत का। इसलिए समझदार नास्तिक को भी परमेश्वर और धर्म के विषय में सन्देह तो हो ही सकता है, परन्तु ऐसे भी बहिर्मुख देश तथा समाज हैं, जहाँ परमेश्वर और धर्म की चर्चा

तक नहीं, फिर सन्देह कहाँ से हो सकता है ? सन्देह से जिज्ञासा और जिज्ञासा से बोध भी अनिवार्य होता है। अतः ईश्वर और धर्म में सन्देह तक अतिदुर्लभ है। इसलिए सन्देह हो तो भी नास्तिकों को भी धर्म का अनुष्ठान परमावश्यक है।

बिना धार्मिक भावनाओं का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज एवं राष्ट्र का सुसंघटन हो ही नहीं सकता। सुन्दर स्त्री, रत्न तथा राज्यादि विहीन लोग दूसरों की उक्त सुखसामग्रियों को देखकर स्मृहा या ईर्ष्या करते हैं। कोई क्यों साम्राज्यादि सुखसामग्री सम्पन्न और हम क्यों दरिद्र एवं दुःखी रहें ? बस, एतन्मूलक राजा-प्रजा, किसान-जमींदार और पूँजीपति-मजदूरों का संघर्ष होना स्वाभाविक है। एक ओर ईर्ष्या या रागवश मजदूर, किसान संघटन करते हैं और क्रान्ति पैदा करके पूँजीपति, जमींदार आदि को मिटा देना चाहते हैं। दूसरी ओर राजा तथा धनी-मानियों को भी प्रमादवश गरीबों का शोषण करके अपने ही भोग सामग्रियों में सर्वस्व लगाने की सूझती है। एक वर्ग कुछ नहीं देना चाहता, दूसरा सब कुछ ले लेना चाहता है। इस तरह धन एवं भोग में आसक्त धनिकवर्ग तथा दरिद्रता, उत्पीड़न एवं ईर्ष्या से पीड़ित निर्धनवर्ग अपने-अपने कर्तव्यों से वंचित होकर राष्ट्र और समाज के जीवन को संकटपूर्ण बना देते हैं। शास्त्र एवं धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे सभी में संतोष एवं सामंजस्य की भावना प्रतिष्ठित होती है। शास्त्र और धर्म का प्रभाव ऐसा था कि लोभ पर-स्त्री एवं पर-द्रव्य को विष के समान मानते थे। लोगों की यह धारणा थी कि सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख में अपने शुभाशुभ कर्म ही मुख्य हेतु हैं। क्यों हम दुःखी एवं दरिद्र हुए ? इसका समाधान वे इस तरह कर लेते थे कि जैसे अपने कर्मवश कोई पशु, कोई पक्षी, कोई अन्ध, कोई बधिर या कोई उन्मत्त होता है, वैसे ही कर्मों के अनुसार कोई भोग-सामग्री से विहीन और कोई उससे सम्पन्न होता है।

प्राणी को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति भोगना पड़ता है। उसे अपनी ही सम्पत्ति तथा सुख सामग्री में सन्तुष्ट रहना चाहिए। परकीय धन या कलत्र की स्पृहा नहीं करनी चाहिए। पुरुषार्थ से अपने हाथ हट-पुट हो जाना और बात है, दूसरों की हटता-पुटता मिटाकर अपने समान उसे भी बना देना और बात है। ऐसे ही अपने सत्प्रयत्नों से सुन्दर भोग सामग्री-सम्पादन करना यद्यपि युक्त ही है, तथापि दूसरों की सामग्रियों से ईर्ष्या करना, उसे अपहरण करना अवश्य ही पाप है। ऋषि लोग अरण्यों में रहते थे और नदियों के तट पर कुदाल आदि से कुछ सामग्री पैदा करते थे। उसमें से भी वे राजा का अंश निकालकर उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे दे आते थे। पाप बन जाने पर पापी स्वयं जाकर राजा से दण्ड-ग्रहण करते और उससे अपनी शुद्धि समझते थे। अब भी पाप बन जाने से अपने आप पापों के प्रायश्चित्त करने की प्रथा भारत में कुछ प्रचलित है। लिखित महर्षि ने अपने भाई के ही उद्यान से फल लेने को चोरी समझा और उससे शुद्ध होने के लिए राजा के यहाँ स्वयं जाकर, राजा की अनिच्छा रहते हुए भी, हस्तच्छेदन करवाया। इस तरह उसे अपने न्यायोपार्जित सामग्रियों में सन्तुष्ट रहने का अभ्यास था, परकीय या अन्याय-समागत वस्तुओं से घृणा एवं भय था, परोपकार करने में पुण्य-बुद्धि एवं उत्सुकता तथा पर-पीड़न में घृणा और उद्वेग होता था, तब समाज तथा राष्ट्र की सुव्यवस्था स्वभाविक ही थी। मिलने पर भी सभी भरसक यही प्रयत्न करते थे कि दूसरे की वस्तु न ली जाय। इसके विपरीत देने वालों को यही स्पृहा रहती थी कि किसी प्रकार अपनी वस्तु परोपकार में लगे। घर-घर आतिथ सत्कार की प्रथा थी। बंधुदेव के उपरान्त द्वार पर खड़े होकर उत्तिथि की प्रतीक्षा की जाती थी। उसके न मिलने पर खेद प्रकट किया जाता था। अग्निहोत्र के अग्नि भोजवान् से अतिथि पाने की प्रार्थना की जाती थी। क्या ही उदात्त भावना

थी, बहुत उपवासों के बाद श्रीरन्तिदेव वैश्वदेवादि कृत्य करके जब थोड़ा सा सत्तू खाने बैठे, तब पुल्कस आदि कई अतिथि आ पहुँचे। रन्तिदेव सब कुछ उन्हें देकर जलपान करने लगे। इतने में ही एक श्वपच अपने कुत्तों के साथ आ पहुँचा और उसने अपनी क्षुधा-पिपासा की व्यथा कह सुनायी। श्रीरन्तिदेव समस्त जल प्रदान करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि “हे नाथ ! मैं स्वर्ग, अपवर्ग आदि कुछ भी नहीं चाहता हूँ, केवल यही चाहता हूँ कि सन्तप्त, आर्त प्राणियों का कष्ट मुझे मिल जाय और सभी प्राणी खुशी हो जायें।”

यज्ञ-यागादि के व्याज से सभी सम्पत्तिशाली अपनी सम्पत्तियों का विभाग करके समता उत्पन्न कर लेते थे। राम के यज्ञ में महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौमंगल्य-सूत्र ही अवशिष्ट रह गया। यद्यपि वह समय साम्राज्यवाद का था, तथापि वर्तमान, प्रजातन्त्र या साम्यवाद उस शासन के सौन्दर्य की बराबरी कथमपि नहीं कर सकते। यद्यपि राजा अपने भुजबल से साम्राज्य-पालन करते थे, उनका राष्ट्र निज भुजबल पर सुरक्षित था, सेना केवल शोभा के लिए थी। उसमें शैथिल्य होने पर सम्राट, स्वतः युद्धभूमि में अवतीर्ण होते थे फिर भी बिना प्रजा की अनुमति पुत्र तक को शासन-भार नहीं दिया जा सकता था। प्रजा के सन्तोष के लिए सम्राट अपने पुत्र-पत्नी तक का परित्याग कर सकते थे। जैसे सूर्य तिग्मरश्मियों में पृथ्वी का रस ग्रहण करते हैं और वर्षा ऋतु में उसे भूमि को प्रदान कर देते हैं, वैसे ही प्रजा से कर तो लिया जाता था, परन्तु उसका लक्ष्य केवल प्रजा का संरक्षण ही था।

(सिद्धान्त, वर्ष ८, अंक २)



धर्मों की एकता

यद्यपि यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वैदिक, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में परस्पर बहुत अन्तर है तथापि आजकल के लोग एकता के विस्तार की धुन में इन सभी धर्मों को एक ही कहते हैं। कहा जाता है कि सभी धर्मों में सत्य और दया का महत्व है और वही सब धर्मों का मूल है। राम, कृष्ण, बुद्ध, शङ्कराचार्य, ईसा, मुहम्मद ये सभी महापुरुष थे। “सबहि सयाने एकमत” के अनुसार सब का एक ही मत है। जैसे एक रुपया, सोलह आने, चौसठ पैसे ये सब एक होते हुए भी नाम में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही सब धर्म मूल में एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत होते हैं। व्यास भगवान् के अठारहों पुराणों का सार यही है कि “परोपकार ही पुण्य और परपीड़न ही पाप है।” यही बुद्धदेव का भी कहना है। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दान, दया आदि का सम्मान सभी धर्मों में समान रूप से है, एक हिन्दू “सुधारक” से किसी ईसाई ने प्रश्न किया कि “आप क्या ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं?” सुधारक ने कहा— “मैं तो सभी जीवों को ईश्वर का पुत्र मानता हूँ, परन्तु ईसा अवश्य ईश्वर के योग्य पुत्र थे। अतएव मेरा राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद इन महापुरुषों में समान आदर है। गीता, बाइबिल, कुरान, तीनों ही ग्रन्थों में मेरी समान रूप से प्रीति है।” ईसाई ने प्रश्न किया कि “जब इन तीनों में विरोध पड़ता है तब

आप किसे मानते हैं ?" इस पर उन्होंने कहा कि "उस समय में अहिंसा तथा सत्य की कसौटी पर निर्णय करता हूँ। अहिंसा और सत्य-विरुद्ध सिद्धान्त को त्याग कर उसके अनुकूल सिद्धान्त को ग्रहण करता हूँ। यदि कहीं सन्देह होता है तो वहीं अन्तरात्मा की स्वीकृति का ही मेरे लिए प्रामाण्य है।"

यह ठीक है कि धार्मिक-संघर्ष से तरह-तरह के विघटन, वैमनस्य पैदा हो रहे हैं, अतः एकता एवं समानता का भाव सर्वत्र पैदा करना परमावश्यक है। परन्तु यह भाव मानवता के नाते सभी मनुष्यजाति में आ ही जाता है। इतना ही क्यों, जीवभाव से देखें तो स्थावर-जंगम ही में समानता दीखेगी। अहिंसा, सत्यादि भी जहाँ-जहाँ जितने अंश में सत्य मान्य हैं, वहाँ उतने ही अंश में एकता समानता का भाव परम लाभकारी होगा। दूसरे धर्म की निन्दा न करके अपने-अपने धर्म में लगे रहें, तो इतने से ही बहुत कुछ वैमनस्य, विघटन दूर हो सकता है। परन्तु देखा यह जाता है कि उन उन धर्मों में परिनिष्ठित लोग जब आवश्यकता होती है, तब परमत खण्डन से चूकते नहीं। बौद्धों के सारनाथ में यद्यपि हिन्दुओं का बहुत कुछ साहाय्य है और उनका परम तात्पर्य इसी में है कि वे बौद्धों को मिलाकर अपनी बड़ी से बड़ी संख्या बना सकें। परन्तु वहीं से निकलने वाला "धर्मदूत" वेदों की निन्दा से खाली नहीं रहता। किसी अंक में लिखा गया था कि "प्रथम युग इतना अंधकारपूर्ण था कि वेद जैसी ऊल-जलूल पुस्तक का भी प्रामाण्य माना जाता था।" सच बात तो यह है कि संसार में जो सबको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, वह सब का शत्रु हो जाता है। सौ मतों को नष्ट करने का संकल्प कर जो चलता है वह सौ मतों को तोड़ तो सकता नहीं, उलटे एक सौ एक मत बनाकर बैठ जाता है। यदि कुछ सौ मत को एक ही बतलायें और कुछ सौ में भेद तो दो मत और नवीन उत्पन्न हो जाते

हैं। कुछ दिन पहले मुसलमानों को मिलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया गया था, उसके दुष्परिणाम से बुरी तरह परेशान होकर प्रयत्नशीलों को लाचार होना पड़ा। इस सम्बन्ध में "जिम्मेदार" कही जाने वाली कांग्रेस सरकार की धाँधली सब को ज्ञात ही है। वैसे ही बौद्धों के मिलाने का प्रयत्न होगा। यहाँ हमारा यह तात्पर्य नहीं कि एकता समानता का प्रयास ठीक नहीं, हमारा कहना केवल इतना ही है कि अपने सिद्धान्त से च्युत की कहीं भी, गति नहीं है। अतः अपने सिद्धान्त में स्थित रहकर उसकी रक्षा करते हुए ही समन्वय और सामंजस्य का प्रयत्न ठीक है। संसार में कितने ही दिनों से एक धर्मस्थापन का प्रयत्न हो रहा है। परन्तु वह असफल ही रहा। ईसाई, मुसलमान आदि सभी का यही भाव है कि एक हमारा ही धर्म लोककल्याण का मूल है। इसी में सब को आ जाना चाहिए। इसके लिए उचित-अनुचित तरह-तरह के उपायों का प्रयोग किया जा रहा है। एक वैदिक सनातन धर्म को छोड़ कर सर्वत्र ही अपने सम्प्रदाय बढ़ाने की धुन दिखलाई पड़ती है। आज भी तो लोकतन्त्रवाद, सुधारवाद, फ्रांसीसीवाद, नाजीवाद इन सिद्धान्तों के ही ऊपर युद्ध का होना बताया जा रहा है। अस्तु, जब एक धर्म या सिद्धान्त सब को मान्य नहीं और पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों की एकता हो नहीं सकती तब तो यही उचित प्रतीत होता है कि अहिंसा, सत्यादि सार्वदेशिक धर्मों का समान रूप से पालन करते हुए अपने-अपने धर्म में ही सब को स्थित रहना चाहिए। अपने धर्म और सिद्धान्त में प्रतिष्ठित रहकर ही, जहाँ तक बने एकता का प्रयत्न करना चाहिए।

सब का एक ही धर्म हो इसके तीन ही प्रकार हैं। या तो एक को छोड़कर बाकी सब धर्म मिटा दिये जायँ, या सबको मिटाकर एक पृथक् धर्म बनाया जाय अथवा सब में विरोध होते हुए सब एक बना दिये जायँ। इनमें प्रथम पक्ष ही ठीक जँचता है, जो सत्य है उसी को रखकर

काकी को मिटा देना चाहिए, परन्तु व्यवहार में यह असम्भव ही है। इसी तरह किसी नवीन धर्म को चलाने से सभी प्रचलित धर्मों से उसका विरोध होगा और वह कभी सफल न होगा। परस्पर विरुद्ध मतों की एकता सर्वथा ही असम्भव है। एक रज्जुखण्ड को कोई रज्जु कहता है, कोई सर्प, कोई धारा, कोई माला, कोई भूखिद्र। क्या सभी कथन सत्य हो सकते हैं? यहाँ मानना ही पड़ेगा कि एक वस्तु का एक ही ज्ञान यथार्थ सत्य है और सब असत्य। रज्जु में रज्जुज्ञान ही यथार्थ है और सब ज्ञान अयथार्थ। हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य में भी तो अनेक मतभेद मिलते हैं। कोई सर्वथा, सर्वदा, मनसा वाचा-कर्मणा किसी को न सताने को ही अहिंसा कहते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि माता, पिता, गुरुजनों की रक्षा के लिए, किसी साध्वी सती पतिव्रता की धर्मरक्षा के लिए अन्यायी, अत्याचारी को दण्ड देना आवश्यक होता है। फिर यह अत्यन्त असम्भव है, क्योंकि किसी का किसी को धर्माचरण या भगवदाराधन में ही कष्ट हो सकता है। मनसावाचा-कर्मणा अहिंसा के पुजारियों के किसी भाषण और आचार से भी किसी को कष्ट हो सकता है। यही स्थिति सत्य की है। जिस सत्य से किसी धर्मात्मा भगवत्परायण का वध होता हो, जिससे गौओं का संहार प्रस्तुत हो, वैसे सत्य का क्या मूल्य हो सकता है? रही अन्तरात्मा की स्वीकृति की बात, उसकी भी कोई स्थिति नहीं है। वस्तुतः अन्तरात्मा कौन है, उसका क्या स्वरूप और कैसी स्वीकृति होती है, इसमें भी अनेक मतभेद हैं। शुद्ध परमात्म-स्वरूप के निर्णय में अनेक मत हैं। किसी को शुद्ध परमात्मा का साक्षात्कार हुआ और उसकी प्राप्ति हुई, इसमें सिवा शपथ के और क्या प्रमाण और दूसरों को कैसे विश्वास हो? सभी धर्म के लोग कहते हैं कि हमारे आचार्य को परमेश्वर का साक्षात्कार और प्रेरणा प्राप्त हुई है, इतना ही क्यों, वही स्वयं परमेश्वर थे।

यदि अन्तरात्मा अन्तःकरण ही है और उसी को अन्तरङ्ग भावना अन्तरात्मा की प्रेरणा है, तब तो ठीक यही सत्य है कि जिसकी अन्तरात्मा जैसे रहन-सहन वातावरण एवं आचार-विचार में संस्कृत है, उसमें वैसी ही भावना और प्रेरणा होती है। अहिंसानिष्ठ को एक चीटी के भी मरने पर बड़ी ग्लानि होती है, परन्तु हिंसकों को क्षण में सहस्रों गौओं और धर्मात्माओं को मार देने पर भी किंचित् संकोच नहीं होता। फिर भले ही अहिंसा तथा सत्य अंश में सबकी समानता हो तो भी अन्य देशों में महान् विरोध है। हाँ, यह ठीक है कि जितने अंश में समता है उतने अंश में सामंजस्य का प्रयत्न उचित ही है, विप्रतिपन्न अर्थ विप्रतिपत्ति भी उचित ही है। वैदिक तो शास्त्रानुसार ही अहिंसा, सत्य, दया को धर्म मानते हैं, शास्त्रविरुद्ध अहिंसा, सत्य दयादि को अधर्म ही मानते हैं। महाभारत-संग्राम काल में अर्जुन का बन्धु-बान्धवों पर कृपा या दया कल्मश माना गया है। अर्जुन ने भी उसे 'कार्पण्य' शब्द में स्वीकार किया है। जैसे क्षत्रिय का धर्म, राष्ट्र आदि की रक्षा के लिए मरना-मारना दोनों ही परम धर्म है, पलायन करना पाप है, वैसे ही अग्निष्टोमादि में पश्चात्तम्भन धर्म ही है। अतः शास्त्र को छोड़कर स्वातन्त्र्येण धर्माधर्म का निर्णय असम्भव है। फिर इसके सिवा यदि कुछ गुण भी हो, परन्तु उससे अधिक दोष का सम्मिश्रण हो तो उस गुण का क्या मूल्य? एक सेर नीम के तेल में एक दो बिन्दु इत्र का क्या महत्व? किं वा मधुर मनोहर पक्वान्न तुष्टि-पुष्टि एवं शुभ्रवृत्ति का हेतु भी हो, परन्तु यदि उसमें विष का मिश्रण हो तब उसका क्या परिणाम? ठीक इसी तरह कहीं अहिंसा, सत्य, दयादि गुण हों, परन्तु ईश्वरद्रोह, वेदद्रोह तथा वैदिक धर्म-द्रोह, शून्यताभिनिवेश आदि विद्यमान हों उस अहिंसा-सत्य का क्या महत्व हो सकता है?

फिर विशेष बात यह है कि प्रत्यक्ष या तर्क से अहिंसा, सत्य

आदि की धर्मरूपता विदित भी नहीं हो सकती। देह के पश्चात् आत्मा का अवशेष रहना, परलोक और वहाँ सुख-दुख यह सब प्रत्यक्षानुमानादि से कथमपि नहीं विदित हो सकता। साथ ही पौरुषेय वचनों से भी उनका निर्णय असम्भव है, क्योंकि पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करण, पाटवादि कोई न कोई दोष रहता ही है अतः उनके वचनों का निरपेक्ष रूप से प्रामाण्य नहीं हो सकता। इसलिए जब तक प्रत्यक्षानुमान से ज्ञान न लिया जाय, तब तक किसी भी पौरुषेय वचन का प्रामाण्य नहीं हो सकता।

यदि बुद्ध सर्वज्ञ हैं, तो गौतम, कणाद क्यों नहीं ? अपने अपने धर्म प्रवर्तकों को सभी सर्वज्ञ मानते हैं। पर सभी एकमत होकर किसी एक को सर्वज्ञ नहीं मानते। यदि सभी को सर्वज्ञ माना जाय, तो फिर उनमें मतभेद न होना चाहिए। बुद्धदेव अन्तरात्मा को क्षणिक सोपप्लव, विज्ञानरूप मानते हैं। कपिल आत्मा को अनन्त, असङ्ग, चैतन्यरूप मानते हैं। कूटस्थता और क्षणिकत्व का सामंजस्य क्या कभी हो सकता है ? अतः पौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्य नहीं हो सकता। इसलिए अपने यहाँ अपौरुषेय वेद के ही आधार पर धर्माधर्म का निर्णय किया गया है। वह किसी पुरुष ने बनाया नहीं है, अतः पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दोषों से उसके दूषित होने की संभावना नहीं है। जो लोग वैदिक धर्म और बौद्ध, धर्म का कुछ भेद ही नहीं मानते, वे वस्तुतः दोनों ही धर्मों से अपरिचित हैं। वे केवल कुछ साधनात्मक बौद्ध वचनों का संग्रह करके सब सामंजस्य का प्रयत्न करते हैं। किसी भी धर्म में सामान्य रूप से प्रमाण और प्रमेय का निरूपण होता है। वैदिकों एवं बौद्धों में प्रथम मतभेद-प्रमाण के ही विषय में होता है। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। उनके मत में कोई भी वचन प्रत्यक्षानुमान मूलक होने से ही मान्य हो सकता है। परन्तु वैदिकों के यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान से

अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करने वाले आगम का स्वातन्त्र्येण प्रामाण्य होता है, जैसे यह आवश्यक नहीं है कि श्रोत्रैकगम्य शब्द चक्षु से गृहीत हो, वैसे ही आगमगम्य अर्थ प्रत्यक्षादि से अवश्य गृहीत हो यह आवश्यक नहीं है। बल्कि 'अज्ञात ज्ञापकत्वं प्रमाणानां प्रामाण्यम्' इस सिद्धान्त से प्रत्यक्ष और अनुमान से अज्ञात अर्थ के प्रतिपादक आगम का ही मुख्य प्रामाण्य है। प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक आगम तो अनुवादकत्वेन अप्रमाण ही समझा जाता है, जैसे 'अग्निहिमस्य भेषजम्।' इस तरह प्रत्यक्षानुमान-प्रामाण्यवादी बौद्धों से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, इन ६ प्रमाणों को माननेवाले वैदिकों का स्वाभाविक ही भेद है। वैदिक वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानते हैं, बौद्ध वेद और वैदिक कर्मों के घोर विरोधी हैं। यद्यपि लीपा-पोती करने वाले इसे छिपाना चाहते हैं, परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के पण्डित और परिनिष्ठित इस तथ्य को सहर्ष मानते हैं।

प्रमेय का विचार करने से भी साधक, साधन, साध्य इन तीन स्वरूपों का निर्णय परमावश्यक होता है। वैदिकों और बौद्धों में इस विचार से भी आकाश-पाताल का अन्तर है। वैदिकों का आत्मा नित्य है, बौद्धों का क्षणभंगुर, क्षणिक विज्ञान है। वैदिकों का साध्य नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म भावावाप्ति है, बौद्धों का साध्य सर्वाभाव, शून्यता या विषयाकारविवर्जित क्षणिक विज्ञान-धारा भावापत्ति है। वैदिकों का साधन वेद और वैदिक सत्पुरुषों से निदिष्ट कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड है, बौद्धों का साधन उनसे सर्वथा विपरीत है। बौद्ध वेद और ईश्वर को ही नहीं स्वीकार करते फिर तन्मूलक कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की क्या स्थिति? प्रमाण, प्रमेय, साध्य, साधन, साधक ये ही सभी धर्मों के सार होते हैं, अतएव इसका निरूपण सर्वत्र ही होता है। इनकी एकता ही मुख्य एकता है, इनकी विभिन्नता ही विभिन्नता है। अहिंसा, सत्य आदि

तो कुपथ्य परिवर्जित रूप में आदरणीय होते हैं, अतः यदि इनमें सर्वत्र समानता भी हो जाय तो भी प्रमाणादि में मतभेद रहने से विभेद रहना अनिवार्य ही है। पूर्वमीमांसा में पौरुषेय ग्रन्थों पर विचार किया गया है। स्वातन्त्र्येण केवल मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का ही प्रामाण्य है। पौरुषेय स्मृत्यादि का भी प्रामाण्य तन्मूलभूत श्रुति के अनुमान से ही होता है। परन्तु जहाँ श्रुति का विरोध होता है वहाँ स्मृतियों का अप्रामाण्य ही समझा जाता है। “विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् सति ह्यनुमानम्” इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्रों से इस पर विचार किया गया है। स्मृतिवाक्य का जहाँ श्रुतिवाक्य से विरोध होता है वहाँ उसकी उपेक्षा की जाती है। जैसे “औदुम्बरीं स्मृष्टवोद्गायेत्” इस श्रुतिवाक्य की अपेक्षा “आदुम्बरी सर्वा वेष्टव्या” यह स्मृतिवाक्य लोभमूलक होने से अप्रमाण माना जाता है। बौद्धादि स्मृतियों के भी विषय में विचार किया गया है। वेदविरुद्ध आचारविचारशील पुरुषों से निर्मित बहुत अनर्थ कारणों से परिप्लुत होने से उन्हें अश्रद्धेय कहा है। हाँ, जितने अंश में समन्वय हो सकता है, उतने अंशों में समन्वय उचित ही है। इस दृष्टि से पुत्र को अन्तरात्मा मानने वाले की अपेक्षा देहात्मवादी चार्वाक मत आदरणीय है। देहात्मवादी की अपेक्षा इन्द्रियात्मवादी भी आदरणीय है। उसकी उपेक्षा क्षणिक बुद्धि को आत्मा मानने वाले बौद्ध भी आदरणीय हैं। इस तरह सोपानारोहक्रम से सब मतों का समन्वय शुद्ध वैदिक अद्वैतवाद में ही है। इस विषय का विस्तृत विवेचन “श्रीभगवत्तत्त्व” के “सर्व सिद्धान्त समन्वय” में किया गया है।



जाति-मीमांसा

जाति क्या है ?

साधारण रूप से नित्य और अनेक में समवेत धर्म ही “जाति” पद से व्यपदेश्य होता है, ऐसे ही धर्म को “जाति” कहा जाता है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत और नित्य धर्म “गोत्व” जाति है। यही धर्म अपने धर्म वालों का सजातीय और विजातीय से व्यावर्तन भी कर देता है। गोत्व धर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादि से गौ को व्यावर्तित कर देता है। बहुधा आकृतिभेद से जातिभेद की मान्यता चलती है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से आकृतिभेद न रहने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों में जातिभेद मान्य होता है। यहाँ तक कि पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से जाति अर्थ में ही “ब्राह्मण” शब्द सिद्ध होता है, अजाति में तो “ब्राह्म” शब्द बनता है- ब्राह्मोऽजातौ। “ब्राह्मणी” आदि में “डीप” प्रत्यय भी “जाति” अर्थ में ही होता है।

आकृतिग्रहणा जातिः लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।

सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

अर्थात् आकृति यानी अनुगत संस्थानविशेष से जाति की व्यंजना होती है। यहाँ आकृति को उपदेश का उपलक्षण माना गया है। “ऐसी आकारवाली वस्तु गौ है” इस प्रकार के उपदेश से गोत्व जाति का परिज्ञान होता है। “अयं ब्राह्मणः” इस प्रकार के प्रत्यक्ष उपदेश से ब्राह्मण आदि

जातियों का परिज्ञान होता है। इसी अंश की व्याख्या शेष कारिका में की गयी है।

जो असर्वलिङ्गभागी हो और एक बार के उपदेश से अनुगतरूपेण ब्राह्म हो, वही जाति है : “असर्वलिङ्गभागित्वे सति सकृदुपदेशब्राह्मत्वं जातित्वम्।” “ब्राह्मणः, वृषलः” आदि शब्द पुलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग वाले होने पर भी नपुंसकलिङ्ग वाले नहीं हैं, अतः असर्वलिङ्गभागी हैं। साथ ही “अयं ब्राह्मणः” इस उपदेश से उसके पितृ-पितामहादिकों में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है। “अयं वृषलः” ऐसे उपदेश से वृषल के पुत्र, पौत्र सहोदरादि में वृषलत्व का ज्ञान हो जाता है। अतः इनमें अनुगत संस्थानरूप आकृति अनुपलब्ध होने पर भी जाति का व्यवहार होता है।

“संस्थानव्यंग्य” गोत्वादि जाति या “उपदेशगम्य” ब्राह्मणादि जाति जन्म से ही होती है। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी, असर्वलिङ्गभागिनी तथा अनेकानुगत होती है।

आविर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।

असर्वलिङ्गं बह्वर्था तां जातिं कवयो विदुः ॥

(महाभाष्य ४/१/१३)

जैसे गुण के बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जाति के बिना भी द्रव्य नहीं रहता। इसीलिए जैसे द्रव्य के रहते गुण का नाश नहीं होता, वैसे ही जाति का भी नाश नहीं होता। इसीलिए मृत हरिण-शरीर को भी हरिण की कहा जाता है। क्षत्रियगुण-कर्मवाले द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदि को ब्राह्मण ही कहा गया और ब्राह्मणगुण-कर्मवाले युधिष्ठिरादि को भी क्षत्रिय ही कहा गया है। ब्राह्मणगुण-कर्मानुसार अर्जुन संन्यास में प्रवृत्त होना चाहता था, पर भगवान् ने उसे रोका और कहा कि “वशि तुम धर्मयुक्त संग्राम में प्रवृत्त न होगे, तो निश्चित ही पाप के भागी होगे।”

जैसे शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शूकर, कूकर, देव, मनुष्य आदि जन्म प्राप्त होते हैं, आकस्मिक नहीं, वैसे ही ब्राह्मणादि जन्म भी :

तद्य इह रमणीयाचरणास्ते ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा आपद्येरन् ।

अर्थात् शुभाचारवाले प्राणी ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचार वाले चाण्डालादि और पश्यादि योनियों को प्राप्त होते हैं। कर्मों के अनुसार ही जैसे हरिण-हरिणी से हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ब्राह्मण उत्पन्न होता है। असवर्ण विवाह आदि से संकरी सृष्टि ही होती है। जन्मना जाति के आधार पर ही फिर जात्यनुसारी कर्म चलते हैं। इसीलिए ब्राह्मणकर्म, क्षत्रियकर्म, वैश्यकर्म, शूद्रकर्म, स्त्रीकर्म, पुरुषकर्म की व्यवस्था होती है। जन्ममूलक वर्णव्यवस्था होती है और वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म-धर्म की व्यवस्था होती है। जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष, यही व्यावहारिक स्थिति है। योनि, विद्या और तप ब्राह्मण का कारण होता है। विद्या, तप के बिना भी “जाति-ब्राह्मण” होता है। योनि के बिना विद्या-तप में “सिंहो माणवकः” के समान गौण ब्राह्मण कहलाता है। सिंह-सिंहीं से जन्म होने से शौर्य न होने पर भी जातिसिंहत्व का व्यवहार होता है। सिंह-सिंहीं से जन्म न होने पर भी शौर्यादि-गुणयोग से गौणसिंहत्व का व्यवहार होता है।

जन्मना प्राप्यते सा जाति । जाति मुख्यरूप से जन्मना ही होती है, फिर भी कहीं-कहीं देश के नाम से जाति का व्यवहार होता है। इसका कारण यह है कि देश के सम्बन्ध में जाति-व्यंजक संस्थिति में विशेषता आती है। विभिन्न देशों के जल, वायु आदि के प्रभाव से रंग, रूप और बनावट में भेद पड़ता है। अमुक-अमुक जंगल के हाथियों और शेरों में भी इसी दृष्टि से भेद दिखायी देता है। अतः उन-उन देशों और

जंगलों के नाम से उन-उन हाथियों एवं शेरों की जाति का व्यवहार होता है। इसी तरह घोड़ों, गायों में भी देशादि भेद से उनकी बनावट, रचना आदि में कुछ भेद प्रतीत होता है। ब्रीहि, गोधूमादि अत्रों और आम्रादि फलों पर भी इसका प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। काल का भी प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। अमुक महीने के ब्रीहि की अमुक जाति, अमुक महीने के ब्रीहि, आम्रादि की अमुक जातियाँ होती हैं। इन सब बातों का प्रभाव मनुष्यों पर भी पड़ता है। इसलिए चीनी, जापानी, बर्मी इंग्लिश अफ्रीकी मनुष्यों में भी रूप रंग और बनावट का भेद उपलब्ध होता है। इसी संस्थान भेद से व्यंग्य होने के कारण इनमें जाति भेद की कल्पना होती है।

इनका ही क्यों, भारत में भी नेपाली, मैथिल, पंजाबी, द्रविड़, बंगाली, उत्कल, मराठा, मद्रासी मनुष्यों में बनावट का भेद उपलब्ध होता है। यावद्द्रव्य-भावी होने के कारण देशादिजन्य विशेषताओं के कारण जाति-भेद की कल्पना चल सकती है। परन्तु ब्राह्मणत्वादि मैथिल, पंजाबी, बंगाली आदि सब में बराबर है। तन्मूलक धर्म भी समान ही है। इसी तरह बनावट में एक से होने पर भी उनमें क्षत्रिय, ब्राह्मणादि भेद होता है, तन्मूलक धर्म में भी भेद होता है। देशादिकृत विशेषताएँ व्याप्य हैं, ब्राह्मणत्वादि उनकी अपेक्षा व्यापक है। शास्त्रों ने तो पशु, पक्षी पाषाणादि में भी ब्राह्मणत्वादि भेद मान रखा है।

ऊपदेशव्यंग्य जाति में भी विशेषताएँ हैं ही, किन्तु उनका स्वरूप सूक्ष्म है, संस्थान (बनावट) आदि के समान वे सर्वसाधारणरगम्य नहीं होती। जैसे : आम्रत्व, निम्बत्व का भेद सर्वग्राह्य है, फिर भी आमों के अवान्तर भेद दुर्गम है। जिनमें बनावट का भेद है, उनका भेद ग्राह्य होने पर भी जहाँ बनावट का भेद नहीं, वहाँ रसभेद से भेद ज्ञात होता है, कहीं रसभेद भी नहीं ज्ञात होता, किन्तु वीर्य विपाकादि परिणामभेद

५४
 से भेद विज्ञात होता है। इसीतरह विराट पुरुष की मुख बाहु, उरू, पाद की तत्तद्विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न ब्राह्मणादि की विशेषताएँ भी प्रत्यक्षानुमानगम्य न होने पर भी आर्षज्ञानगम्य हैं। उनके रक्तादि में बाह्यभेद न होने पर भी तत्तच्छक्ति विशेष विशिष्टत्व का बोध परम्परा के उपदेश से गम्य है।

चीनी, जापानी, इंग्लिश आदि जातिभेद भी केवल निवास के आधार पर नहीं होते, अपितु परंपरा से निवासियों में वहाँ के जल-वायु से प्रभावित होने पर रूप रंग, बनावट में प्रभाव के कारण ही तत्तत् जाति-व्यवहार होता है। इसीलिए दूसरे देश का निवासी कुछ दिनों से दूसरे देश में रहने भी लग जाय, तब भी उनकी जाति उस देश से व्यवहृत नहीं होता। अंग्रेज भारत में रहें या चीन में, तब भी वे भारतीय या चीनी नहीं कहला सकते। इसी तरह जब कोई हिन्दू या भारत का परंपरा से निवासी हो, वहाँ के जलवायु का उसकी बनावट पर प्रभाव हो, तभी वह “हिन्दी” या “भारतीय” कहा जा सकेगा। आजकल की नागरिकता की कथा इससे सर्वथा भिन्न है। वह तो सरकारों की मान्यता के ऊपर निर्भर रहती है, उसमें किसी प्राकृतिक भेद की बात नहीं होती।

प्राकृतिक आधार पर जो भेद होते हैं, वे मान्यता या विश्वास पर आधारित नहीं होते। जो चीन का परंपरया निवासी है और वहाँ के जलवायु से जिसकी रचना, रूप-रंग बनावट प्रभावित है वह चीनी है, चाहे वह बौद्ध हो, मुसलमान हो, चाहे हिन्दू। वह चाहे चीन की भूमि को पितृभूमि, पुण्यभूमि मानता हो या चाहे देशद्रोही हो, सर्वथा चीनी ही कहलाएगा। इसी तरह यदि कोई परंपरा से भारतनिवासी एवं भारत के जल-वायु से प्रभावित एवं भारतीय रूप-रंग, बनावट-वाला होगा तो उसे जो भी नाम दिया जाय, हिन्दी, हिन्दू या भारतीय, वह अनिवार्य रूप से वही कहा जाएगा। उसमें विश्वास और मान्यता के कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, देशद्रोही हो या देशभक्त, वह वही कहलाएगा। कोई देश को पितृभूमि, पुण्यभूमि, माने अथवा न माने, उससे उसकी देशकृत जाति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

वर्तमान काल में जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का व्यवहार चल रहा है, वह धर्मभेद के आधार पर है। इसीलिए देश की दृष्टि से वह किसी जाति का हो, जो धर्म मानता है, उसी धर्म का वह माना जाता है। धीरे-धीरे उन-उन धर्मानुयायियों में भी जाति का व्यवहार चल पड़ा है। यहाँ भी अनेक समवेत, एक, नित्य धर्म में जातिव्यपदेश सम्भव है ही। कुरानादिप्रोक्त-धर्मानुयायित्व मुसलमानत्व और वेदादि शास्त्रप्रोक्त धर्मानुयायित्व हिन्दूत्व आदि धर्म एक और अनेक समवेत हैं ही। इसमें एक ही गड़बड़ी रहती है और वह यह कि आजकल यह नित्य नहीं है। अन्य धर्मानुयायी कालान्तर में अन्यधर्मानुयायी भी बन सकता है। ईसाई से मुसलमान और मुसलमान से ईसाई बनते रहते हैं। अतएव यावद्द्रव्यभावित्व भी इसमें नहीं है, इसीलिए इन्हें "जाति" कहने में कठिनाई पड़ती है। किन्तु वैदिकों में जन्मानुसार वर्णव्यवस्था और तदनुसार ही धर्मव्यवस्था होती है। अतः धर्मानुयायित्व भी यावद्द्रव्यभावी है, इसलिए उसमें जातिव्यवहार हो सकता है। भेद इतना ही है कि स्वगुण-कर्मच्युत शौर्य-वीर्यविहीन सिंह जैसे भ्रष्ट या अधम सिंह कहलाता है, वैसे ही स्वधर्मविमुख हिन्दू भ्रष्ट या अधम हिन्दू कहलाएगा।

वेदों में "सिन्धवः" शब्द आता है, वह सिन्धुनदी के पार्श्ववर्ती देशों एवं तत्रिवासियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वेदों में "सकार" के स्थान में "हकार" का भी प्रयोग हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में "सरस्वती" "हरस्वती" आदि वैदिक उदाहरण हैं। "केसरी" का "केहरी" आदि लौकिक उदाहरण भी प्रसिद्ध है। तथा च "सिन्धु-सिन्धवः", "सिन्धु हिन्धवः" व्यवहार चलने लगा। कालक्रम से "धकार" का परिवर्तन

“दकाररूप” में हुआ और “हिन्दू” नाम चल पड़ा। “सिन्धु” शब्द का लक्षणा से सिन्धु-समीपस्थ देश अर्थ है। “गंगायां घोषः” उदाहरण में प्रसिद्ध है कि गंगातट ही जहती लक्षणा से गंगा शब्द का अर्थ है, वही घोष (आभीरपल्ली) सम्भव है। इसीतरह जहती लक्षणा से सिन्धुपार्श्ववर्ती देश सिन्धु-शब्द का अर्थ हुआ। जैसे “मंचाः क्रोशन्ति” इस प्रयोग में अजहती लक्षणा से मंच का अर्थ मंचस्थ पुरुष होता है वैसे ही सिन्धुदेश निवासी भी सिन्धु शब्द का अर्थ होता है।

इस दृष्टि से सिन्धु नदी के इस पार समुद्रतट तक और उस पार भी समुद्रतट तक के निवासी हिन्दू कहे जा सकते हैं। यही भारतवर्ष हुआ। यहाँ अनादिकाल से जन्मना वर्णव्यवस्था एवं तदनुसारी वैदिक-धर्म प्रचलित था, अतः वैदिक-धर्मानुयायी हिन्दू हुए। यही सृष्टिस्थल भी है। यहीं से अन्यान्य जातियों एवं धर्मों का अन्यान्य देशों में प्रसार हुआ है। जो धर्मविमुख हो गये, वे भ्रष्ट हिन्दू ही अन्य नामों से व्यवहृत होने लग गये। उनमें अलग-अलग धर्म भी हो गये। उन्हीं हिन्दुओं के गुणों को लेकर हिन्दू की परिभाषा “मेरुतन्त्र”, “मेदिनी-कोष” आदि में की गयी है—

हीनं दूषयति, हिंसकान् दुनोति वा हिन्दुः, हिनस्ति दुष्टान् वा।

अर्थात् हीन या अधम को जो दूषित करे, जाति-बहिष्कृत करे वह हिन्दू है या हिंसक को जो दण्ड दे वह हिन्दू है अथवा दुष्टों का जो हनन करे वह हिन्दू है। हीनता, हिंसा, दोष आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही हिन्दू धर्म है। हिन्दू धर्म प्रलीप्तकारों से “मेरुतन्त्र” में हिन्दू-धर्म पद से विदादिशास्त्रप्रोक्त धर्म ही विवक्षित है।

हिन्दू, हीनता, दोष अथवा हिंसा को वेदादिशास्त्रानुसार जानकर वेदादि शास्त्रानुसार ही दण्ड देता है, दुष्ट का हनन करता है, क्योंकि वेद

ही अपौरुषेय, अतएव समस्त पुंदोषशंकाकलंकशून्य ईश्वरीय ग्रन्थ है; अतः वैदिक धर्मानुयायित्व ही हिन्दुत्व है, वह निर्गलित अर्थ हुआ। यही प्रथम सृष्टि हुई, अतः यहीं से लोग अन्यत्र जाकर बसे, अतएव मूलतः सभी हिन्दू हैं। कालक्रम से अनेक कारणों से स्वधर्माभिविमुख होने से भ्रष्ट हिन्दू ही अन्यायन्य देशनिवासी, अन्यान्य धर्मानुयायी होकर अन्यान्य जाति के कहे जाने लगे।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च । —मनुस्मृति

जैसे प्राण द्वारा शरीरस्थिति होती है, वैसे ही धर्म से विराट् की स्थिति होती है। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। भारतवर्ष में ही उस धर्म का सार्वदिक रूप से अवस्थान है, यहीं अनादि-अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि खंडहरों से यह सिद्ध हो गया है कि संसार की सब से प्राचीन संस्कृति “वैदिक-संस्कृति” है। मन्वादि धर्मशास्त्रों से तो वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता सिद्ध है ही। संसार के सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं, केवल वेद ही अपौरुषेय हैं। वेदों की सर्वप्राचीनता तो सिद्ध है ही। उन वेदों में भारत की सिन्धु आदि विभिन्न नदियों का वर्णन है। हिन्दू-धर्म ही पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में क्रमेण विकृतरूप से उपलब्ध हो रहा है। देशकृत जाति की दृष्टि से भी सभी जातियाँ मूलतः हिन्दू हैं, क्योंकि यहीं प्रथम सृष्टि हुई है, यहीं से अन्यत्र देशों के मनुष्यों का प्रसार हुआ है। वे एवं तदनुसारी धर्म भी मूलतः सबका ही है, क्योंकि ईश्वरीय शास्त्र एवं धर्म वही है। जन्मना वर्णव्यवस्था भारत में ही अवशिष्ट है, अतः वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त धर्म भी यहीं अवशिष्ट हैं।

वास्तविक जन्मना वर्णव्यवस्था विदेशियों के यहाँ यद्यपि लुप्त हो गयी है, तथापि यह उचित है कि वे भी केवल व्यवहारोपयोगी ज्ञानप्रधान,

बलप्रधान, धन-प्रधान, शिल्प-सेवादिप्रधान समूहों की एकबार गुण-कर्मानुसार ब्राह्मणादिवर्ण-व्यवस्था चलाकर उसे जन्मना सुस्थिर करें और आपास में ही भोजन, विवाहादि करते हुए त्रिशल्लक्षण सनातनधर्म का पालन करें। परन्तु जन्मना वर्णव्यवस्था के लुप्त हो जाने तथा उपनयन परंपरा के नष्ट होने के कारण वे वेदाध्ययन तथा तदुक्त श्रौत-कर्मों के अनुष्ठानार्ह नहीं रहेंगे। तो भी त्रिशल्लक्षण धर्मपालन से वे गति वही पा सकेंगे, जो वैदिकों को प्राप्त होगी। उनके कल्याण के लिए वेदों के ही सारभूत तत्वों से रामायण, महाभारतादि आर्ष-ग्रन्थ बने हैं। उनके श्रवण तथा विभिन्न भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्हें दिव्य सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक तत्वों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से भारतवासी होने पर भी, रूप-रंग, बनावट एक ढंग की होने पर भी, दैशिक दृष्टि से चीनी इंगलिश आदि के समान एक भारतीय या हिन्दी-जाति की दृष्टि से एक जाति के होते हुए भी धर्म की दृष्टि से उनमें हिन्दू, मुसलमान आदि भेद हो सकता है।

(‘सिद्धान्त’ जाति, राष्ट्र एवं संस्कृति; राष्ट्रिय स्वयं सेवक संघ एवं हिन्दू धर्म; विचार-पियूष से)



संस्कृति-विमर्श

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसके प्रचार की चर्चा चल पड़ी, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। वास्तव में किसी देश या राष्ट्र का प्राण उसकी संस्कृति ही है, क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं तो संसार में उसका व्यक्तित्व ही क्या ? किन्तु संस्कृति का क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है, यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द “कल्चर” का अनुवाद “संस्कृति” किया जाता है। परन्तु ‘संस्कृति’ संस्कृत भाषा का शब्द है, अतः संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही उसका अर्थ होना चाहिए।

तदनुसार “सम्” उपसर्गपूर्वक “कृ” धातु से भूषण अर्थ में “सुद्” प्रत्यय होने पर “संस्कृति” शब्द सिद्ध होता है। इस तरह लौकिक-पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

“संस्कार” या “संस्करण” का भी संस्कृति से मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं : “मलापनयन” और “अतिशयाधान।” किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिसकर उसका मल साफ करना “मलापनयन संस्कार” है। तेल, रंग द्वारा हस्ती के मसतक या

काष्ठ की किसी वस्तु को चमकीला तथा सुन्दर बनाना “अतिशयाधान” संस्कार है। नैयायिकों की दृष्टि से वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये ही तीन संस्कार हैं। अनुभवजन्य और स्मृति की हेतु “भावना” है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादि में बार-बार अभ्यास करने से उत्पन्न कौशल की अतिशयता को ही “भावना” माना गया है।

तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना ।
कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा ॥

स्वाश्रय की प्रागुद्भूत अवस्था के समान अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही संस्कार है

स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकः अतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः ।

योगियों की दृष्टि में न केवल मानस संकल्प, विचार आदि से ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि की सभी हलचलों, चेष्टाओं और व्यापारों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव “कर्मसंस्कार” या “कर्मवासना” शब्द से उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टि से सम्यक्, असम्यक् सभी प्रकार के कर्मों से संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारों का प्रभाव

संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार इस रूप में संस्कारों में उत्कृष्टता या निकृष्टता का भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए, यह भी शास्त्र का आदेश है :

यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति ।
स त्राह्यणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति ॥

यहाँ “सम्” की आवृत्ति करके “सम्यक् संस्कार” को ही “संस्कृति” कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारों का पर्यवसान पाप, अज्ञानादि का अपनयन और कुछ कर्मों द्वारा पवित्रता, विद्या आदि की अतिशयता का आधान किया जाता है। साधारणतः दार्शनिकों के यहाँ यह सब आत्मा में होता है, पर वेदान्त की दृष्टि से अन्तःकरण में, आत्मा तो सर्वथा असंगत ही रहता है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि जैसे खान से निकले हुए हीरक एवं मणि में संस्कार द्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या तत्कार्यात्मक प्रपंचमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्मा को प्राकृत निम्नस्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरों से सम्बद्ध करने या प्रकृति के सभी स्तरों से मुक्त कर उसे स्वाभाविक अनन्त-आनन्द साम्राज्य सिंहासन पर समासीन करना ही आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारों के उपयुक्त कृतियाँ ही “संस्कृति” शब्द से कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही “धर्म” शब्द से व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संसार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही “संस्कृति” शब्द से कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नस्तर, सीमाओं में आवद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही ‘संस्कृति’ हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियों की विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियों में प्रायः संघर्ष भी चलता है। कहीं तो संस्कृतियों की खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति का विनाश कर देती है। संस्कृति का भूमि के साथ सम्बन्ध होने से ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देश के जलवायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा-साहित्य आदि पर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसी प्रभाव को प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि

“किसी राष्ट्र के किसी असाधारण बड़प्पन के गर्व को ही संस्कृति कहना चाहिए।” उदाहरणार्थ, “इंग्लैण्ड के लोगों को सबसे बड़ा गर्व अपनी पार्लियामेण्टरी शासनप्रणाली के आविष्कार के लिए है। अमेरिका को गर्व है कि उसने संसार में स्वतन्त्रता की पताका फहराई और दो महायुद्धों में उसने विश्व को स्वतन्त्रता का वरदान दिया। हिटलर ने जर्मनी में आर्यत्व के विशुद्ध रुधिर का गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी यह विशेषता ही उनकी संस्कृति का आधार है।” किसी अंश में यह सब भाव ठीक है, परन्तु संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अन्धों द्वारा हाथी के वर्णन जैसी है।

संस्कृति का आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना “संस्कृति” क्या है, यह समझ में नहीं आ सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृति का आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियों के धर्मग्रन्थों द्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओं की भूषणता-दूषणता, सम्यक्ता या असम्यक्ता का निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकती है? अतः ईसाई-संस्कृति का आधार उनकी पवित्र “बाइबिल” और मुसलिम संस्कृति का आधार “कुरानशरीफ” है। इसी तरह हिन्दू संस्कृति के आधार वेदादि शास्त्र हैं।

भारतीय संस्कृति

अब प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति क्या है? इसमें संदेह नहीं कि भारत में कई विदेशी जातियाँ आयीं और बस गयीं। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओं का देश है, अतः उन्हीं की “संस्कृति” है, जिसके मूलस्रोत वेदादि-शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक आर्थिक, राजनैतिक,

सामाजिक उन्नति का वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही “भारतीय संस्कृति” है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अंगों पर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है। बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। संसार के प्रायः सभी देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की कितनी ही बातें विकृत रूप से पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी न किसी रूप में वर्ण व्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशों के प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि की भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र तो व्यापक रूप में फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँची, यह दूसरा प्रश्न है, पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू-संस्कृति से है। भारत की भूमि से भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पन के गर्व की बात की जाती है, उसका भी अनुभव इसी संस्कृति में होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यही मानना पड़ता है कि हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। यह मान लिया जाय तो विवाद का अवसर ही नहीं रहता, क्योंकि हिन्दू-संस्कृति की सीमा हिन्दू-धर्मशास्त्रों में निर्धारित है। उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूप का सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

खिचड़ी संस्कृति

आजकल के कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति के मिश्रित रूप को ही “भारतीय संस्कृति” मानते हैं। इसी को “हिन्दुस्तानी संस्कृति” का भी नाम दिया जाता है। किन्तु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। इसका न कोई आधार है और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति के किसी अंग पर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी।

दर्शन, कला, साहित्य आदि सभी में यह दिखलाया जा सकता है। देश के नेताओं ने "इण्डियन यूनियन" (भारत-संघ) को "सेक्युलर स्टेट" (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित कर दिया है। अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि "सबकी संस्कृति की रक्षा की जायगी, किसी संस्कृति पर हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।"

कई नेताओं ने यह भी कहा है कि "रंग बिरंगे पुष्पों या हीरों द्वारा जैसे माला की शोभा बढ़ती है, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियों का यदि एक-सूत्र में संग्रथन हो तो उससे राष्ट्र की शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंग के बिगाड़ने की अपेक्षा नहीं।" ऐसी स्थिति में संस्कृति की खिचड़ी कहाँ तक ठीक है ? हिन्दू-जाति, हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म, वेदादिशास्त्र, मंदिर और राम-कृष्ण आदि समझ में आ सकते हैं। उसी तरह कुरान, मसजिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझ में आ सकती है। परन्तु इन दोनों को बिगाड़कर वेद-कुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर मसजिद, अल्लाह-राम आदि को मिलाकर हिन्दुस्तानी संस्कृति, हिन्दुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझ में नहीं आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा, परन्तु रमखुदैया खतरे से खाली नहीं। दीनदार, ईमानदार हिन्दू या मुसलमान दोनों ही ठीक, बे-दीन, बे-ईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूलधर्मों, संस्कृतियों एवं मूलशास्त्रों पर विश्वास न रहेगा, तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारों पर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असंभव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनों से "एक संस्कृति" का नारा लगाया जा रहा है। यहाँ भी वही प्रश्न होता है कि "कौन संस्कृति ? हिन्दुस्तानी खिचड़ी या विशुद्ध हिन्दू संस्कृति ?" तथाकथित हिन्दुस्तानी संस्कृति में क्या सर्वसाधारण हिन्दू या मुसलमान को कभी पूरी श्रद्धा हो सकती है ? फिर यदि एक

संस्कृति हिन्दू-संस्कृति ही मानी जाय, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि “मुसलमान कलमा-कुरान और मसजिद का आदर तथा अपनी भाषा, वेशभूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृति के रूप में हिन्दू-संस्कृति का पालन कर सकते हैं।” फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि से भिन्न संस्कृति कौन-सी वस्तु होगी जिसे मानकर मुसलमान उस पर गर्व करेगा।

कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि “एक संस्कृति हिन्दू-संस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें भारत छोड़ना होगा।” किन्तु ऐसा कहना सरकार द्वारा घोषित सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) नीति के विरुद्ध ही नहीं, हिन्दू धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त के भी विपरीत है।

हिन्दू धर्म तो प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्मानुसार चलने की स्वतंत्रता देता है। ‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः’ उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी-भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन-प्रकारेण सभी हिन्दू बना लिये जायें। हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टि से एक संस्कृति का नारा ठीक है, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देश में अल्पसंख्यकों की संस्कृतियों का संरक्षण न हो। यह भारत की ही विशेषता है कि वह भिन्नता में भी एकता देखता है। एकसूत्र में गुथे हुए मणियों की माला का उदाहरण भी इसी में घटता है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था

“संस्कृति” के प्रसंग में ही कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि “कर्मणा वर्ण-व्यवस्था” मान लेने पर अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू-समाज में लाने की सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला,

अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जाएंगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और सेवापरायण शूद्रकोटि में आ जाएंगे। बहुतों को इसका प्रलोभन रहेगा। यद्यपि यह ठीक है कि भारत में वैदिकों का बाहुल्य होने से वैदिक-संस्कृति ही “बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति” न्याय से भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्म ग्रन्थों के अनुसार आचार-विचार, उपासना, कर्म आदि का हिन्दू-संस्कृति में समावेश है। उन धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी हिन्दू कहला सकता है। तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णव्यवस्था जन्मना ही है। कर्मणा वर्णों का उत्कर्ष अवश्य होगा।

जैसे बीज और क्षेत्र दोनों ही अंकुर के कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म दोनों वर्ण के मूल हैं। प्राक्तम गुणकर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुण-कर्म से उसका उत्कर्ष होता है। गुण-कर्मविहीन अधम और गुण-कर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्मप्राप्ति में भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते ही हैं। जैसे जन्म एवं शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्म से युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्म के बिना जन्ममात्र से जाति-सिंह। जन्म के बिना गुण-कर्ममात्र से मनुष्य को भी शौर्यादि गुण-कर्म से सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। इसी तरह जन्म और कर्म से मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्म के बिना केवल जन्म से जाति-ब्राह्मणादि जन्म के बिना गुण-कर्मादि के गौण ब्राह्मणादि का व्यवहार होता है।

जैसे माता, भगिनी आदि को उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्यों का विधान है। इसी तरह व्यवस्था भी रह सकती है। अन्यथा पत्नी का कर्म करने से दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिए ‘ब्राह्मणो यजेत’ आदि विधान है, यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत् स यजेत या यो यजेत स ब्राह्मणः ऐसा विधान नहीं है। ‘पत्नी एवं कुर्यात्’ यही विधान है, या ‘एवं कुर्यात् सा पत्नी’ ऐसा विधान नहीं है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानने

पर दिनभर में ही अनेक बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी ? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादि के आपास में ही हो सकते हैं । जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा मुसलमान ब्राह्मण आदि में भोजन, विवाहादि सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णों से भिन्न लोगों का उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है ।

(सिद्धान्त १९५२ 'कल्याण' का हिन्दू संस्कृति विशेषांक, स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित पुस्तिका, जाति, राष्ट्र एवं संस्कृति, विचार-पिथूष से)



हिन्दुत्व का आधार

आचार-विचार, भाषा, कला, विश्वास आदि शिक्षा, संग, देशाटन आदि से बदलते रहते हैं। देश के आधार पर रूप-रंग, बनावट से होने वाली जातियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धर्ममूलक जातियों पर ही इन बातों का प्रभाव पड़ता है। “बीजांकुर न्याय” से प्राणियों के जन्म-कर्म की परम्परा अनादि है। स्वप्न-जागरण, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय की परम्परा भी अनादि है। इस अनादि विश्व का नियामक अनादि परमेश्वर है। उसके निःश्वासभूत अकृत्रिम वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ विश्व का विधान या कानून है। तद्विहित कर्मादि ही धर्म है। तत्प्रतिपालक जाति हिन्दू जाति है। इस दृष्टि से “हिन्दू-कानून से जो शासित हैं वे हिन्दू हैं” यह परिभाषा भी इसी आधार पर ठीक है; क्योंकि “हिन्दू लॉ” का आधार मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहारमयूख आदि निबन्ध ग्रन्थ हैं। उनका भी आधार मन्वादि धर्मशास्त्र और उनका भी आधार वेदादि-शास्त्र हैं। जात्या हिन्दू भी व्यावहारिक दृष्टि से तब तक “हिन्दू” माना जाता है, जब तक विरोधी धर्मान्तर ग्रहण नहीं कर लेता। इसी आशय से ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, पारसी से भिन्न लोगों को हिन्दू मानने की रीति चल रही है। सिख, जैन, बौद्ध और वेदादि शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धानुयायी तो हिन्दू ही हैं।

किन्तु आजकल देश में अलग होने का भी एक रोग चल पड़ा है

और उसको मानने के लिए परिभाषा को शिथिल करने, रबड़-छन्द की तरह बढ़ाने-घटाने का भी रोग चल रहा है। यह सामान्य नियम है कि अव्यक्ति, अतिव्यक्ति, असम्भव दोषों से शून्य लक्षण या परिभाषाएँ प्रत्यक्ष लक्ष्यों में प्रत्यक्षानुसारी बनायी जाती हैं। जैसे भी प्रत्यक्ष लक्ष्य है तो उसका सास्नादिमत्व लक्षण प्रत्यक्षानुसारी है। जिसमें सास्ना (गलकम्बल) नहीं, वह गौ नहीं। पर जहाँ लक्ष्य का ज्ञान ही आगमादिजन्य हो, वहाँ लक्षण भी आगमानुसारी ही होता है। जैसे शुद्ध-संस्कृत शब्द सर्वकल्प महर्षियों को भले ही प्रत्यक्ष हों, पर सर्वसाधारण को तो लक्षणों, व्याकरण सूत्रों से ही वे ज्ञात होते हैं। अतः महर्षि लक्ष्यैकचक्षुष्क और साधारण लोग लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं, आगमानुसारी लक्षण सुस्थिर होते हैं, मनमानी रबड़-छन्द के समान उनका घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं। उसका फल भी प्रत्यक्ष है कि लाखों वर्षों के ग्रन्थों का उन्हीं लक्षणानुसारी स्थिर लक्ष्यों के आधार पर अर्थ-निर्णय हो जाता है, कठिनाई नहीं पड़ती। अन्य भाषाओं में, जहाँ लक्षण स्थिर नहीं, हजार वर्ष के भी ग्रन्थों का अर्थज्ञान दुर्लभ हो जाता है। इसी तरह ब्राह्मणादि वर्ण एवं तदनुसारी धर्म शास्त्रगम्य है, अतः धर्ममूलक हिन्दू आदि जातियाँ भी शास्त्रमूलक ही होनी चाहिए, उनकी परिभाषा भी शास्त्रानुसारी ही होनी चाहिए। अधिक संग्रह के लोभ से रबड़ छन्द की तरह परिभाषाओं को घटना-बढ़ाना सर्वथा अनुचित है।

यद्यपि कहीं-कहीं देश के अनुसार जाति का नाम पड़ता है, जैसे कि "मैथिल" आदि नाम मिथिला के सम्बन्ध से पड़ा है किन्तु "मिथिला" नाम जाति के सम्बन्ध से नहीं हुआ है। कई स्थानों में जहाँ कोई भी नहीं रहता, उन प्रदेशों का भी कोई न कोई नाम कल्पित होता ही है। इस तरह देशनामों के आधार पर ऐकान्तिक जातिकल्पना नहीं की जाती। जब "हिन्दू" शब्द धर्मविशिष्ट जाति का वाचक हो, तभी हिन्दुओं का निवास-स्थान होने से देश का नाम "हिन्दुस्तान" होगा। परन्तु हिन्द

निवासी होने के कारण जाति का नाम हिन्दू माना जाय और हिन्दू-निवास-स्थान होने से देश का नाम "हिन्दुस्तान" माना जाय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष ध्रुव होगा। साथ ही हिन्दुनिवासी अन्य लोगों को भी "हिन्दू" कहना पड़ेगा। अतः हिन्दूलक्षण अतिव्याप्त ही होगा।

कई लोग हिमालय के "हि" और इन्दुसरोवर "न्दु" को जोड़कर प्रत्याहार-न्याय से "हिन्दू" शब्द बनाते हैं, अर्थात् हिमालय से लेकर इन्दुसरोवर (कुमारी अन्तरीप) तक का देश हिन्दुस्तान है।

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ॥

सारांश, "सिन्धवः" इस वैदिक शब्द के आधार पर अथवा "हिनं दूषयते" आदि व्युत्पत्तियों के आधार पर हिन्दू-शब्द धर्मविशिष्ट जाति का ही वाचक है।

कुछ लोग हिन्दू-जाति का इस प्रामाणिक एवं निश्चित परिभाषा तथा उसके निश्चित नियम को ही उसके पतन या ह्रास का कारण बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में "जाति-बहिष्कार की प्रथा सर्वथा बन्द होनी चाहिए। लक्षण अधिकाधिक संग्राहक होने चाहिए, नियम सरल होने चाहिए, वे भी शिथिल होने चाहिए, नियमोत्प्लंघन करनेवालों को क्षमा कर देनी चाहिए, अनुशासन की कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। हिन्दूशास्त्रों और धर्म में भी नये सुधार-परिष्कार होने चाहिए।" इसी आशय से नयी स्मृतियों और "हिन्दू-कोड" की आवश्यकता बतलायी जा रही है। विकासवाद के अनुसार यह सब ठीक ही है, क्योंकि उसके अनुसार अभी तक ज्ञान-क्रियाशक्ति का पूर्ण विकास हुआ ही नहीं है। अतः कोई भी सर्वज्ञ हुआ ही नहीं है। फिर कोई भी शास्त्र, कोई भी धर्म, कोई भी परिभाषा या कोई भी नियम पूर्ण कैसे माना जाय? फिर उत्तरोत्तर परिष्कार, सुधार आदि आवश्यक ही

है। परन्तु जो परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान मानते हैं— रेल, तार, रेडियो, वायुयान, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम बनानेवाले वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों का भी निर्माता परमेश्वर को ही मानते हैं। पूर्ण ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ तो परमेश्वर में ही हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र और धर्म का स्थिर ही होना ठीक है, नियम भी स्थिर ही ठीक हैं, अनुशासनहीनता ही पतन का मूल है।

हिन्दू-हिमायती सुधारक हिन्दुओं के नाशक ही हैं। ईसाई, मुसलमान कहते ही हैं कि “हिन्दूधर्म कर्मों के लिए अवश्य लाभदायक था, परन्तु आज के देश-काल के लिए वह पुराना हो गया, अब समाज के सामने वे सड़े-गले नियम नहीं रखे जा सकते।” यही आधुनिक सुधारक भी कहते हैं कि “दुनियाँ बहुत आगे बढ़ गयी है, अब पुराने धर्म लाभदायक नहीं होंगे। दुनियाँ के बदलने के साथ-साथ अपने-आपको, समाज को, धर्म को बदलते चलना ही बुद्धिमानी है। आज वायुयान के जमाने में बैलगाड़ी से चलना, हाइड्रोजनबम के जमाने में पत्थरों के औजारों से लड़ना बुद्धिमानी नहीं।” भेद इतना ही है कि ईसाई, मुसलमान जहाँ ईसाई एवं ईस्लामधर्म तथा “बाइबिल” और “कुरान” को मानने का आग्रह करते हैं, वहाँ ये सुधारक उन्हें भी मानने को तैयार नहीं। वे शास्त्रों में सुधार या नया शास्त्र चाहते हैं। सामान्य जनता समझ लेती है कि ईसाई, मुसलमान और सुधारक हिन्दू एक ही बात कर रहे हैं। जब सुधारक भी नया शास्त्र बनाना आवश्यक समझते हैं, पुराने हिन्दू शास्त्र को लाभदायक नहीं समझते, तो फिर पुराने शास्त्रों को छोड़कर “बाइबिल”, “कुरान” क्यों न मान लिये जायें ? इस तरह अन्ततः ये सुधारक ईसाइयों मुसलमानों के साथी बन जाते हैं।

किन्तु क्या ईसाई मुसलमान और क्या सुधारक, सभी को समझ लेना चाहिए कि सत्य सिद्धान्त में प्राचीनता ही भूषण है, नवीनता नहीं। यदि नवीनता ही मान्य होगी, तब तो आज के लिए “बाइबिल”, “कुरान”

भी पुराने हो गये। ईसाइयत और इस्लामियत भी पुरानी हो गयी। वह भी सड़ गयी होगी। अब उनकी अपेक्षा भी नया सिद्धान्त बनाना ही आवश्यक होगा। इस तरह विकासवादी का विकासवाद भी तो अब पुराना हो गया। जब उत्तरोत्तर के लोग अधिकाधिक विज्ञानी और पूर्व-पूर्व के लोग अल्पविज्ञानी या अज्ञानी हैं तब तो पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र की अपेक्षा पिता, पितामह, प्रपितामह और शिष्य, प्रशिष्य की अपेक्षा गुरु, परमगुरु, परात्परगुरु आदि अज्ञानी ही होंगे। फिर उनकी बात भी कैसे मान्य होगी ?

सच तो यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सभी विषयों में ज्ञान सीखना पड़ता है। फिर पिता और गुरु को अपनी अपेक्षा अज्ञ कहना कितनी बड़ी अज्ञता है ? जो विकासवादी अपने पूर्वजों को बन्दर मानते हैं, उन्हें यह समझ लेना होगा कि यदि उनके पूर्वज बन्दर थे तो वे भी बन्दर ही हैं, क्योंकि बन्दर की सन्तान सिंह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव चन्द्र, सूर्य आकाश, वायु, भूमि, आत्मा आदि अपरिगणीत प्राचीन वस्तुओं का सम्मान किया जाता है, क्षुधा-पिपासा-निवृत्त्यर्थ अन्न-जल ग्रहण किया जाता है, सन्तानसुखार्थ मायासंग्रहादि आज भी करना ही पड़ता है। नवीन भी प्लेग, विषूचिका आदि महामारियों से सभी को उद्वेग होता है। अतः सत्य सिद्धान्तों, शास्त्रों, तदुक्त धर्मों की प्राचीनता ही नहीं, अनादिता एवं नित्यता भी मान्य होती है। धर्म की परिभाषा, स्वरूप और प्रमाण सुस्थिर हैं। उनमें रहोबदल सर्वथा असंगत है। शास्त्रों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जो परिवर्तन बतलाये हैं, वे तो व्यवस्थित हैं। जैसे, हर ग्रीष्म, शीत और वर्षा के परिवर्तन भी प्रवाहरूप से नित्य ही हैं। उनके पृथक् विधान भी उसी रूप में नित्य ही हैं। अतः परिवर्तनवादी हिन्दू-हितकारी नहीं, अपितु मूलघाती ही हैं।

कुछ लोग आधुनिक लोगों, द्वारा प्रचारित "साम्प्रदायिकता" से घबड़ाकर हिन्दुत्व और साम्प्रदायिकता, हिन्दू और साम्प्रदायिक का भेद सिद्ध करने

के लिए आकाश-पाताल का कुलाबा पिड़ाते हैं। वे नहीं जानते कि आधुनिक लोग अनुचित दलबन्दी, नाजायज गिरोह बन्दी को ही "सम्प्रदाय" कहते हैं। परन्तु "सम्प्रदाय" शब्द का अर्थ ऐसा नहीं, अपितु ज्ञान, उपासना, कर्मकाण्ड आदि की अनादि अविच्छिन्न आचार्य परंपरा को 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। हमारे यहाँ "साम्प्रदायिकता" गौरव की चीज है, लज्जा की बात नहीं। तुल्य साम्प्रदायिकम् (जै०सू०) के अनुसार साम्प्रदायिक होने से ही ब्राह्मणभाग की मन्त्रभागवत् अपौरुषेयता, अनादिता सिद्ध की गयी है। शुद्ध वैदिक-सम्प्रदायनिष्ठ व्यक्ति ही "हिन्दू" होता है।

जो लोग कहते हैं कि सिंधु से लेकर सिन्धुपर्णत भारत भूमि को जो पितृभू और पुण्यभू मानता है, वही "हिन्दू" होता है।

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका ।

पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः ॥

किन्तु उनकी यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोषों से पूर्ण है। इसके अनुसार प्राचीनकाल के वे हिन्दू, जो दूसरे द्वीपों में रहते थे हिन्दू ही नहीं कहे जा सकते। हिन्दूशास्त्रों के अनुसार तो वैदिक ही हिन्दू थे। वेदों के आधार पर परमेश्वर सृष्टि रचता है। अतः वेद अनादि हैं। कहीं भी उत्पन्न होनेवाला किसी भी देश को पितृभू और पुण्यभू माननेवाला हिन्दू हो सकता है, केवल वह वैदिकधर्मानुयायी होना चाहिए। मुसलमान, ईसाइयों ने भी धर्म के आधार पर ही जाति की कल्पना की है। इस्लाम एवं ईसाई धर्मविश्वासी कोई भी और कहीं भी हो, मुसलमान या ईसाई कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त देश की सीमाएँ अव्यवस्थित हैं। इस आधार पर यदि जाति कल्पना करें तो जाति भी अव्यवस्थित ही रहेगी। आज सिन्धु की कौन कहे, पिपाशा, चन्द्रभागा, वितस्ता, इरावती नदी भी भारत में

नहीं है, वे पाकिस्तान में है। वहाँ के निवासियों को व्यावहारिक रूप से क्या कहेंगे ? किसी समय ईरान, अफगानिस्तान आदि भी भारत की ही सीमा में थे, जो सिन्धु से परे हैं। वहाँ के निवासियों और उसी भूमि को पितृभू, पुण्यभू माननेवालों को इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू कैसे कहा जायगा ? इस तरह यदि कोई ठीक हिन्दू-धर्म का विरोधी भारतभूमि में बारह से आकर बस जाय और यहाँ अपना अभिमत धर्मस्थान बना ले और इस भूमि को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने लग जाय, तो उसे भी "हिन्दू" कहना पड़ेगा।

इतना ही क्यों, मुसलमान भी इस देश को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं। उनके अनेक धर्मस्थान यहाँ है ही, उन्हें वे पुण्यभूमि मानते ही हैं। फिर उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त ही होगा। कुछ लोग कहते हैं कि "पुण्यभूमि का अर्थ धर्म की उत्पत्ति का स्थान है।" फिर भी यह परिभाषा अनुचित होगी। वैदिकों का सनातनधर्म नित्य है, वह कहीं भी उत्पन्न नहीं हुआ। अतः यह सनातनधर्म की उत्पत्ति की भूमि नहीं है। इस दृष्टि से सनातनधर्म ही हिन्दू न कहे जा सकेंगे। फिर प्रश्न यह होगा कि "पितृभूमि" पुण्यभूमि, दोनों जो माने वही हिन्दू है, अथवा दोनों में से एक भी माननेवाला हिन्दू है ? कुछ लोग चीनी, जापानी बौद्धों को "हिन्दू" सिद्ध करने के लिए यही पर्याप्त मानते हैं कि उनकी पितृभूमि यद्यपि भारत नहीं है तथापि उनका धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ, अतः वे भी हिन्दू हैं। परन्तु यदि एक-एक भी लक्षण माना जाय तब तो पितृभूमि मात्र मानने से भी कोई हिन्दू हो सकेगा। मुसलमानों का धर्म भले ही यहाँ न उत्पन्न हुआ हो तथापि उनकी भी पितृभूमि भारत है ही।

वस्तुतः ये सब निष्प्रमाण लक्षण हैं और केवल संख्या बढ़ाने की दृष्टि से ही गढ़ जाते हैं। कहा जाता है कि "भारत के वैदिक, चार्वाक,

जैन सब हिन्दू कहे जाएंगे।” परन्तु यदि पुण्यभूमि माननेवाला हिन्दू है, तब चार्वाक कैसे हिन्दू होगा, जब कि उसके यहाँ परलोक ही नहीं ? धर्माधर्म की मान्यता नहीं, तब तीर्थ और धर्म की चर्चा ही क्या ? इस दृष्टि से धार्मिकता को लेकर ही इस पक्ष में भी कैसे हिन्दुत्व की कल्पना होगी ? फिर अधार्मिक चार्वाक हिन्दू कैसे होगा ?

इसके अतिरिक्त जब जैन, बौद्ध, चार्वाक भी हिन्दू इस नाते हैं कि वे भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, तब मुसलमान भी यदि भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानें, तो निश्चय ही वे भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। जैसे वैदिकों की पुण्य भूमि और तीर्थों को न मानते हुए भी जैन केवल अपने तीर्थों और पुण्यभू को माननेवाले हिन्दू हैं वैसे ही उपर्युक्त दोनों के तीर्थों और पुण्यभू को न मानने पर भी स्वाभिमत पुण्यभू और तीर्थ मानने पर मुसलमान भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। काशी आदि से भिन्न तीर्थ मानने पर भी जैन हिन्दू हैं, तो काशी आदि से भिन्न, अपनी मसजिदों, बहराइच आदि स्थानों को तीर्थ मानने से भी मुसलमान हिन्दू हो सकेंगे। इसलिए कई लोगों ने तो यहाँ तक भी कहा कि “हिन्दुस्तान में रहनेवाला हिन्दू है।” फिर तो स्पष्ट है कि प्रादेशिकता हिन्दुत्व ठहरेगा। यदि बीच में धार्मिकता भी लाना चाहेंगे, तो उसकी परंपरा भी माननी पड़ेगी तथाकथित साम्प्रदायिकता भी आ जायगी। अतः ये सब लक्षण असंगत हैं।

वास्तव में “वेदादि-धर्मशास्त्र और तदाधारित निबन्धानुयायित्व हिन्दुत्व है। यदि कोई सर्वमान्य विशेषता और प्रमाण की अपेक्षा न हो तब तो वास्तविक संग्राहक लक्षण यही है कि “गोभक्ति, प्रणवादिनामपूजा, पुनर्जन्म-विश्वास” हिन्दुत्व के प्रयोजक हो सकते हैं। जैन, बौद्ध, सिख, हिन्दू सब में यह लक्षण संगत हो जाता है :—

गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवादौ दृढा मतिः ।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दुरिति स्मृतः ॥

किन्तु इससे भी प्रामाणिक हिन्दु-परिभाषा तो निम्नोक्त ही है :—

वेदशास्त्रोक्त धर्मेषु वेदाद्युक्ताधिकारवान् ।
आस्थावान् सुप्रतिष्ठश्च सोऽयं हिन्दुः प्रकीर्तितः ॥

अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मों में वेदादिशास्त्रानुसार ही जो अधिकारी हो और अधिकारानुसार जो विश्वासवान् एवं उस धर्म में प्रतिष्ठित हो, वही प्रामाणिक हिन्दू है ।

यों जैसे जातीयता के कारण अनुचित दुराग्रह और पक्षपात को तथाकथित “साम्प्रदायिकता” कहा जा सकता है, वैसे ही प्रादेशिकता को लेकर अनुचित दुराग्रह को भी गिरोहबंदी कहा जा सकता है । किसी एक के मतभेद के कारण दूसरों को मौत के घाट उतारने के दुराग्रह को ही तथाकथित “साम्प्रदायिकता” कहा जा सकता है । समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-हित का प्रयत्न अनुचित नहीं, परंतु समष्टि-हित की विधातक व्यष्टि-समुन्नति के प्रयत्न निश्चय ही हानिकारक है । व्यक्तिवाद, तथाकथित सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद राष्ट्रवाद भी उसी तरह खतरनाक है । हिटलर का राष्ट्रवाद विश्व-शान्ति के लिए अहितकर था, इसलिए उसका अन्त सभी चाहते थे ।

अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि धार्मिकता व्यापक है या प्रादेशिकता ? स्पष्ट है कि प्रादेशिकता बहुत ही क्षुद्र है । पहले तो भारत कितना बड़ा है, कौन है ? इसका भी पूरा निर्णय नहीं हो रहा है । पुराणों में ९ हजार योजन उसका परिमाण लिखा जिसका अभिप्राय आजकल का सागर संसार ही भारत है । फिर तो सभी व्यक्ति भारतीय या हिन्दू है ।

ईरान, गान्धार आदि तो कलतक भारत ही थे। गान्धारी का खास सम्बन्ध गान्धार ही से था। यदि धार्मिकता हिन्दुत्व है, तब तो विभिन्न देशों में उसकी व्याप्ति हो सकेगी। यदि प्रादेशिकता के अभिप्राय से हिन्दुत्व की व्याख्या की जाय, तो अधिक से अधिक भारत के राष्ट्रभक्त मनुष्य हिन्दू हो सकते हैं। तथा च इसकी क्षुद्रता स्पष्ट है। इस दृष्टि से विभिन्न द्वीपों और वर्षों के निवासी राजर्षिगण कथमपि हिन्दू न कहे जा सकेंगे।

जो भारतीय राष्ट्रिय सामाजवाद को ही हिन्दुत्व मानते हैं, उनके मत से हिन्दुत्व केवल मिट्टी के कुछ टुकड़े मात्र से सम्बन्ध है। किन्तु अन्य देश, द्वीप या वर्ष का नागरिक वैदिकधर्मावलम्बी भारतीय राष्ट्रिय समाज से अलग ही रहेगा। फिर क्या वह हिन्दू न रह सकेगा ?

(सिद्धान्त, जाति, राष्ट्र और संस्कृति, राष्ट्रिय स्वयं सेवक और हिन्दूधर्म,
विचारपियष से)



संघ की कार्य-शैली-व्यवहारिक कूटजाल और सैद्धान्तिक भ्रम

“विचार नवनीत” में ३६० पृ० पर आपने (श्री गोलवलकरजी) “अनुपम कार्यशैली” शीर्षक से यह बताया कि वर्धा में संघ का महान् महत्त्व देखकर गाँधीजी ने शिविर अवलोकन की इच्छा प्रकट की। उनको अन्दर ले जाया गया। जब उन्होंने संघ में हरिजन कितने हैं यह जानने की इच्छा व्यक्त की तो संघ संचालक ने कहा, मेरी दृष्टि में सब हिन्दू ही हैं। जब गाँधीजी ने विशेष प्रयत्न से पूछा तो उनसे कहा गया कि यहाँ हरिजन समेत अनेक जातियों के लोग रहते हैं, पर वे एक दूसरे की जाति के सम्बन्ध में बिना किसी प्रकार का विचार किये संघ शिविर के सभी कार्यक्रमों में खाने-पीने से लेकर खेलने-कूदने तक आनन्द और समरसता पूर्वक साथ-साथ भाग ले रहे थे (वि० न० ३६१ पृ०)। इससे वर्णाश्रमी सहज समझ लेते हैं कि संघ वर्णाश्रम धर्मविरोधियों का ही एक जमघट है। वर्णाश्रम के लिए गाँधीजी और कांग्रेस से भी इतना खतरा नहीं जितना कि संघ से। गाँधीजी कहते थे, हम रोटी बेटी एक नहीं चाहते (यद्यपि वे चाहते वैसा ही थे) तथापि संघ में भले ही पार्टीभेद का ज्ञान रह सकता है परन्तु एकता के नाम पर संघी जाति को अत्यन्त भुला देने का यत्न करते हैं। इसीलिए संघ में ब्राह्मण, हरिजन सब अपने-अपने घर से रोटी लाकर मिला देते हैं और फिर आपस में सब परोसते

हैं, सब खाते हैं। इसी संस्कार के प्रभाव से दीनदयाल उपाध्याय, अटलबिहारी वाजपेयी जैसे संघनिष्ठ लोगों ने मुसलमानों के साथ भी रोटी-बेटी एक करके उन्हें भी आत्मसात् करने का स्वप्न देखा है।

जनसंघ के कालीकट अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित “जन दीप स्मारिका” में श्री अटलबिहारी वाजपेयी का एक लेख छपा है जिसमें उन्होंने लिखा है कि “मैं सोचता हूँ क्या चाय पीने से इन्कार न करके मैंने ठीक काम किया ? क्या राजनीतिक कार्यकर्ता को साहस के साथ छुआछूत जाति-पाँति भेदभाव की संकुचित भावनाओं के अन्ध विश्वासों के विरुद्ध खड़ा होना नहीं चाहिए ? कब तक हम समाज में घँसी हुई सड़ाँध के साथ समझौता करते रहेंगे। कब तक हम सिसकती हुई रूढ़ियों और डहती हुई दीवारों को बनाये रखने की भूल करते रहेंगे ? क्या अपने ग्रामीण भाइयों से साफ-साफ कहने का वक्त नहीं आया कि धर्म इतना कमजोर नहीं है कि यह किसी के हाथ की चाय पीने से खतरे में पड़ जाये। यदि हम मुसलमान के हाथ की चाय हजम नहीं कर सकते तो राष्ट्रिय जीवन में उन्हें कैसे आत्मसात् करेंगे। मुझे लगता है, ये बातें साफ-साफ कहने का समय आ गया है। इतना ही नहीं, वक्त बीतता जा रहा है, यह समझने का भी वक्त आ गया है। आजादी के २० वर्ष में हमने थोड़ी बहुत प्रगति भले ही की हो किन्तु छुआछूत और जातिभेद मिटाने का काम बहुत पीछे पड़ गया। जब रोटी खाने में धर्म जाने का डर है तो बेटी देने का दुस्साहस करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। आओ समाज को बाँटने वाले इन अन्धविश्वासों और रूढ़िवाद की दीवारों पर वज्रपात करें। आओ एक नये भारतीय समाज की रचना के लिए छुआछूत ऊँच-नीच और जाति-पाँति के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ें। आओ एक नयी क्रांति का झण्डा उठाये। आओ गाँव-गाँव घर-घर में जागरण का शंख फूँके।”

जनसंघ के भूतपूर्व अध्यक्ष दीनदयाल उपाध्याय ने भी कानपुर में कहा था कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार आर्यसमाज, सनातनधर्मी, कबीरपंथी, जैन आदि हिन्दू हैं वैसे ही मुसलमान मुहम्मद पंथी हिन्दू हैं। श्री अटलबिहारी वाजपेयी भी जनसंघ के प्रमुख नेता हैं। वे रोटी-बेटी की एकता चाह रहे हैं। वे जाति-पाँति आदि सभी भेद की दीवारों पर कब्रपात करना चाह रहे हैं। शायद हिन्दू-मुसलमानों को गोरक्षकत्व गोघातकत्व के भेद पर भी वे कब्रपात कर दें। फिर तो एक विशाल नये समाज का जन्म हो जायगा। जिससे न केवल संघ का उद्देश्य पूरा होगा अपितु गाँधी नेहरू ने हिन्दू-मुस्लिम रोटी-बेटी की एकता करार जिस नये समाज की नींव डाली थी, उसकी पूर्ति भी हो जायगी।

शक्ति और सफलता ही सिद्धान्त आधार

जहाँ तक सफलता का प्रश्न है "गुरुजी को छोड़ दो" यह आन्दोलन सफल नहीं रहा। सरकारी आग्रह के अनुसार संघ को लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का विधान अंगीकार करना पड़ा। गोरक्षा के आन्दोलन में तो संघी केवल अवसर से लाभ उठाने की ही बात करते हैं, अवसरवादिता उनकी विशेषता है। सात नवम्बर के प्रदर्शन में जब तक खतरा नहीं था तब तक संघी कहते थे वह आन्दोलन संघ का ही है। जब खतरा दिखायी पड़ा तो स्पष्ट कह दिया कि उसका संघ में कोई संबंध नहीं। वोट, नोट माँगने के समय गोहत्या बंदी आन्दोलन संघ का है कहा गया, सत्याग्रह के समय अपने को उससे सर्वथा अलग रखा गया। गोरक्षा महाभियान समिति के प्रतिज्ञापत्र पर आपने हस्ताक्षर किया कि "ईश्वर की शपथ कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि राजनैतिक लाभ उठाने का प्रयास न करता हुआ मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी पूरी शक्ति से गोहत्याबन्दी आन्दोलन में भाग लूँगा। गोहत्या बन्दी के लिए कुछ उठा न रखूँगा" परन्तु मौके से पहले कह दिया कि मेरा आन्दोलन में विश्वास नहीं है।

आपने कहा कि- "स्तुति से प्रसन्न होकर हमारे नेता राष्ट्र-हित के लिए बलिदान कर सकते हैं (वि०न०पृ० ३६९)।" परन्तु अपनी प्रशंसा तो संघ को भी इष्ट है ही। हाँ, अपनी निन्दा से संघ सभी शिष्टताओं को तिलांजलि दे ही देता है। आपने यह भी कहा कि "संघ का गरीब से गरीब स्वयंसेवक स्वावलम्बी होता है, वह अपने मूल्य से गणवेश आदि खरीदता है, गुरुदक्षिणा भी अपने पास से ही देता है।" "चन्दे के लिये संघ में स्थान नहीं" (वि०न० ३५२ पृ०)। परन्तु यह सब प्रचारमात्र है। संघ में जितना चन्दा मांगा जाता है उतना कहीं भी नहीं मांगा जाता। पैसे-पैसे तक का चन्दा इकट्ठा किया जाता है। हस्ताक्षर आन्दोलन में, गोरक्षा आन्दोलन में लाखों के चन्दे बटोरे गये। यह सब तो सर्वविदित ही है। स्वयंसेवक गुरु दक्षिणा देने के लिए चन्दा बटोरता है। आपके ही शब्दों में कहा जा सकता है कि ढोल में पोल बहुत बड़ी होती है। जितने ऊँचे आदर्शों की ढोल पीटी जाती है वह सब व्यवहार में दुर्लभ ही है। खण्डोवल्लाल के बलिदानों की प्रशंसा करते हुए आप कहते हैं कि "अन्त में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिए अन्तिम भेंट के रूप में चढ़ा देता है। कैसा उदात्त श्रेष्ठ और अनोखा आत्मत्याग और आत्म बलिदान है"-(वि०न०पृ० ३७५)। यहाँ "बलिदानी में कोई न कोई गम्भीर त्रुटियाँ होती हैं तभी वह सफल नहीं होता है" आप इस पूर्वोक्त समालोचना को भूल जाते हैं। राष्ट्रभक्ति का महत्व अवश्य ही अधिक है, परन्तु इसमें भी शास्त्रीय दृष्टिकोण आवश्यक है। राष्ट्र भगवान् के महाविराट् स्वरूप का ही एक अंश है, तभी उसकी उपासना, उपासना शब्द से कहने लायक हो सकती है, अन्यथा संसार में सभी का किसी न किसी वस्तु में प्रेम होता ही है। वह उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग बलिदान करता ही है तो वह भी गुणविशेष मात्र ही होता है, भक्ति नहीं।

वस्तुतः आधुनिक राष्ट्रवाद एक अन्धविश्वास और प्रतिक्रिया मात्र है। जैसा कि अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था- “यह स्वशासित राज्य पर वर्षों से व्याख्यान देता आ रहा हूँ, किन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता।” इसी प्रकार पश्चिमी राष्ट्रवादियों की भी बात है। राष्ट्र के विषय में मुख्यतः पाँच विचार हैं— १. परम्परावादी, २. उदारवादी, ३. जनवादी, ४. साम्यवादी और ५. उग्र राष्ट्रवादी।

परम्परावादी “वर्क” ने राष्ट्र की परम्पराओं को, जिनमें पूर्वजों की बुद्धिमानी सन्निविष्ट हो, आदर की दृष्टि से देखा। उदारवादी विचारकों में “वेन्थम” तथा “मैजिनी” मुख्य हैं। वेन्थम ने कहा था- “एक राष्ट्र के अंतर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य के प्रकृतिदत्त अधिकारों की सुरक्षा होनी चाहिए। विधिशासन अंतराष्ट्रियता की तरफ झुका हो। एक राष्ट्र में अनेक धर्म, भाषा और जाति के लोग रह सकते हैं।” आगे उसने कहा कि “देशभक्ति विश्वबंधुत्व से मुझे शत्रु बनाती है, तो मैं देशभक्त नहीं हूँ।” मैजिनी का भी कहना था- “राष्ट्रवाद का अर्थ अन्तराष्ट्रिय शत्रुता नहीं है।” जनवादी विचारधारा फ्रांसीसी राज्यक्रांति से प्रारंभ होती है, जब जनता का “दैवी सिद्धान्त” उदित हुआ तो ओटो वीवर ने कहा है- “वह राष्ट्र नहीं, जहाँ जनता को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार न हो।” साम्यवादियों ने तो राष्ट्रवाद की भरपेट निन्दा की है। उनके अनुसार यह एक “पूँजीवादी नारा” है। पाँचवा है, उग्र राष्ट्रवाद। इसके दो रूप हैं- राष्ट्रराज्य (नेशन स्टेट) तथा सांस्कृतिक राष्ट्र। प्रथम का प्रचार ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन आदि और दूसरे का प्रचार मध्य-यूरोपीय देशों में हुआ। इसके प्रवर्तक हिटलर ने कहा है कि “एक जाति, एक राष्ट्र। जहाँ-जहाँ जर्मन, वहाँ-वहाँ जर्मन राष्ट्र।” मुसोलिनी और जिन्ना ने भी इसी बात को दुहराया। बार्कर ने लार्ड ऐक्टन के बहुराष्ट्रिय विचार का खण्डन करते हुए लिखा था कि “एक राज्य में एक ही राष्ट्र सम्भव है।”

भारत के जनसंधी जैसे राष्ट्रवादी भी इसी उग्र राष्ट्रवाद के अनुयायी हैं। अन्तर यही है कि हिटलर रक्त की प्रधानता स्वीकार करता था और वे निराधार हैं। हिटलर का यहूदियों के प्रति जैसा भीषण द्वेष था वैसा ही भाव इन लोगों का मुसलिम जाति पर होना प्रतीत होता है। हिटलर ने जैसे सैनिक ढंग से स्वयंसेवकों के प्रदर्शन द्वारा लोगों पर अपनी शक्ति जमायी थी, वैसे ही ये लोग भी सैनिक-ढंग के स्वयं सेवकों के संघटनों से जनता पर अपना-अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। हिटलर की दृष्टि में जैसे जर्मनजाति के लोग ही जर्मनी के नागरिक हो सकते थे, वैसे ही इन नेताओं की दृष्टि में हिन्दू-जाति के लोग ही भारत के नागरिक होने के अधिकारी हो सकते हैं। इनकी दृष्टि में मुसलमान, ईसाई भी अपने को हिन्दू मान लें, हिन्दू नाम, हिन्दू वेशभूषा स्वीकार कर लें तो वे भी हिन्दू हो सकते हैं।

शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यक्ति-अभियान करना लाभदायक होता है। परन्तु समष्टि हित विरुद्ध होने पर वही व्यक्ति अभिमान हानिकारक हो जाता है। जैसे व्यक्तिवाद, जातिवाद समष्टिविरोधी होने पर खतरनाक होते हैं, वैसे ही समष्टि विरुद्ध राष्ट्रवाद "हिटलर राष्ट्रवाद" की तरह ही भयानक होता है। वस्तु-स्थिति यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण होते हुए मानव भी है और मानव होते हुए भी परमेश्वर की संतान या उसका अंश जीव भी है, वैसे ही उसी परमेश्वर की संतान होने के नाते सभी के साथ समानता एवं भ्रातृता का सम्बन्ध है।

खुशामद की आलोचना करते हुए आपने यह भी कहा कि "भगवान् शंकर विष पीकर भी अप्रभावित रहे, पर वही शंकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वयं के लिए आपत्ति बुलाये" (वि० न० ३६८ पृ०) इसमें सन्देह नहीं कि खुशामद पसन्द आदमी दूसरों की कूटनीति के शिकार बन जाते हैं। परन्तु अच्छा होता कि जीवों तक ही आप इसे

सीमित रखते। अल्पज्ञ जीव प्रशंसा सुनते हुए अपनी वस्तुस्थिति को भूल जाता है। परन्तु ईश्वर सर्वदा सर्वज्ञ ही रहता है, वह वस्तुस्थिति को नहीं भूलता। भगवान् शंकर स्तुति से नहीं प्रत्युत् बृकासुर की उग्र तपस्या से सन्तुष्ट हुए थे। स्तुतिमात्र से नहीं।

श्री गोलवलकर जी भी कहते हैं “बलिदानी महान् तो हैं परन्तु असफलता होने के कारण उसमें कोई न कोई गंभीर त्रुटि अवश्य है। अतः वह पूज्य नहीं, पूज्य तो सफल ही होता है।” परन्तु कई असुर प्रकृति के लोग अधिक सफल होते हैं। सात्विकी दैवी प्रकृति के लोग असफल होते हैं। तो भी क्या धर्मरक्षार्थ आत्मोत्सर्ग करने वाले असफल बलिदानी की अपेक्षा वह सफल दानवी वृत्ति का आक्रामक पूज्य कहा जा सकेगा? श्री गोलवलकर ने डॉ० हेडेगवार को जन्मजात आदर्श देशभक्त और युधिष्ठिर का अवतार, अजातशत्रु, अनुपम परोपकारी, शक्तिसंचार सम्पन्न, विश्वमंच को सुशोभित करनेवाला, महानतम पुरुष, मनुष्यमात्र का जीवन, आदर्श हिन्दू माना है। उनके मार्ग पर स्वयं गोलवलकर का जीवन, आदर्श हिन्दू माना है। उनके मार्ग पर स्वयं गोलवलकर तथा संघ चल रहा है। पर क्या वे सफल हुए? भारत की अखण्डता एवं एकात्मकता का सिद्धान्त मानते हुए भी क्या वे भारत को अखण्ड रख सके। क्या भारत खण्ड-खण्ड नहीं हो गया? क्यों उसके लिए उनकी ओर से कोई सक्रिय पग भी उठाया गया? क्या विपरीत वृत्ति वाले विरोधी की सफलता और उनकी असफलता नहीं हुई? खण्डित भारत भी क्या एकात्मकता के विरुद्ध संघात्मकता की ओर नहीं गया?

श्री गोलवलकर ने गोहत्याबन्दी कार्य के लिए मनसा, वाचा, कर्मण्य सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करने की लिखित प्रतिज्ञा करने पर भी क्या प्रतिज्ञा का पालन किया? सफलता मिली? वस्तुतस्तु आसुरी प्रवृत्ति एवं युग-प्रवाह के विपरीत लक्ष्य की ओर हिम्मत के साथ बढ़ना, प्रयत्न जारी

रखना परम कर्तव्य है। सफलता में विलम्ब हो सकता है। अनेक बार विरोधियों को ही सफलता मिले तो भी उत्साह भंग बिना किये धैर्य के साथ आगे बढ़ना ही महापुरुषों का लक्षण होता है। सफलता, असफलता, गौण वस्तु होती है :-

आपद्यमग्नं धैर्यत्वं सम्पद्यन्निमानिता ।

यदुत्साहस्य च त्यागस्तद्वि सत्पुरुषव्रतम् ॥

यह ठीक है कि मैत्री एवं अन्ताराष्ट्रिय सद्भाव अपेक्षित है परन्तु वह न्यायमार्ग से ही उचित है, किसी भी मूल्य पर नहीं। यह सत्य है कि हमारे नेता कभी पाकिस्तानियों से किसी भी मूल्य पर मित्रता खरीद रहे थे, कभी चीन के साथ और उसके परिणामस्वरूप ही देश को विभाजन एवं विनाश का दुर्दिन देखना पड़ा था। यह भी ठीक है कि संसार के अधिकांश लोग शक्ति के ही पुजारी होते हैं।

परन्तु आप भी शक्ति का ही गुणगान करते हैं। “ऐसे अनेक लोग हैं जो शक्ति सम्पन्नता के समय अंग्रेजों के उपासक थे। वे ही हिटलर के प्रखर पताप के समय नाजीवाद के उपासक बन गये थे। और फिर वे ही रूस एवं अमेरिका की जीत होने पर उनके साथी बन गये और नाजीवाद के निन्दक बन गये” (वि०न०पृष्ठ २४५) यही तक नहीं ऐसे लोग जिनमें तथाकथित राजा, रईस, सेठ, साहूकार, महन्त मठाधीश, कुछ आचार्य एवं विद्वान् भी सम्मिलित समझने चाहिए। सभी देशों में विशेषतः इस देश में सदा ही रहे हैं। वे सर्वथा शक्ति के ही पुजारी रहे हैं। फिर वह शक्ति चाहे विदेशी हो चाहे स्वदेशी, चाहे ईमानदारों की शक्ति हो चाहे डाकुओं की। उनको सिर्फ शक्ति ही चाहिए, उनको सिद्धान्त से कुछ प्रयोजन नहीं। देश में विदेशी शासन हो तो वे उसके भक्त बन जाते हैं। कम्युनिष्ट कांग्रेस, सोशलिस्ट, रामराज्य, जनसंघ किसी भी सिद्धान्त से प्रयोजन नहीं, उन्हें शक्ति ही चाहिए। परन्तु यह भी

समझना चाहिए कि ऐसे लोग अवसरवादी, सिद्धान्तहीन बेपैदी का लोटा तथा सर्वथा अविश्वनीय ही समझे जाते हैं। प्रशंसा तो सिद्धान्तवादी की ही होती है।

आपने यह भी कहा है कि “पिछले कुछ दशकों से हमारे देश में जो विचार रहा है उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा है। अहिंसा के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचनशक्ति समाप्त हो गयी है” (वि०न०पृ० २४६)।” परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि राष्ट्र का कोई भी समझदार सदा ही खल की शक्ति को पापपूर्ण समझता है। क्योंकि खल की शक्ति सदा ही परपीडन का ही हेतु रही है— खलस्य शक्तिः परपीडनाय। सात्विकी दैवी शक्ति सदा ही पूज्य एवं आदरणीय रही है, क्योंकि साधु की शक्ति सदा ही दूसरों की रक्षा के ही काम से आती रही है। साधोः शक्तिः रक्षणाय। रक्षिका शक्ति को कोई पागल ही पापपूर्ण कहेगा। हाँ, स्वातंत्र्य आंदोलन में अधिकांश लोग शक्तिहीनता के कारण ही अहिंसा मार्ग से गतिरोध मिटाने का प्रयत्न करते रहे हैं, क्योंकि कुछ क्रांतिकारियों के द्वारा किया गया किंचित् स्वल्प शक्तिसंग्रह अपरिमित हिंसक शक्तिपूर्ण विरोधी शासकों के सामने नगण्य ही नहीं किन्तु हानिकारक भी था। अतः कोई भी समझदार उस समय की अहिंसा-नीति का समर्थन ही करता। शक्तिसंग्रहमात्र का यदि देश विरोधी होता तो आनन्दमठ के संन्यासियों के स्तुत्य शक्तिसंग्रह को प्रश्रय एवं आदर कैसे मिलता ?

विचार नवनीत के ३३८ पृ० तक आपने रूसियों के जनशुद्धिकरण एवं मस्ष्क मार्जन का उदाहरण देकर अहिन्दू धारणाओं से बचाव का उपदेश दिया है और विचार स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है। परन्तु क्या संघ में इसका आदर होता है ? दूसरों की सभाओं में बाधा डालकर सभा भंग करते हुए भी हमलोगों ने देखा है। हमने स्वयं संघ के द्वारा धृणित

प्रचार देखे और सुने हैं। हमलोगों का प्रोग्राम था पर संघ के लोगों ने झूठा प्रचार कर दिया कि स्वामी जी नहीं आएँगे। प्रोग्राम स्थगित हो गया है। संधी वकील जान-बूझकर गलत पर्चा भरता है, और वही अदालत के सामने उसे अवैध सिद्ध करता है। कई जगह तो एक्सीडेंट होने की भी गलत सूचना देकर, सभा प्रचार में विघ्न डालते देखा गया है। रामराज्य के प्रत्याशी पंडित जी हमारे पक्ष में बैठ गये, इस प्रकार झूठा प्रचार करके वोट प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। लोग कहते हैं कि जब बिना सत्ता के यह हालत है तो सत्ता आने पर तो संधी कम्युनिज्म के जनशुद्धिकरण, मस्तिष्क मार्जन में मात कर देंगे। आप देशी राजनीतिक दलों के दुर्गुणों का बड़े समारोह से वर्णन करते हैं, परन्तु जिस दल में शत-प्रतिशत आपके संघ के ही लोग हैं, उस जनसंघ में जितना ओछापन, क्षुद्रता, संकीर्णता है, उतना शायद ही कहीं किसी दल में हो, पर आप इस लक्ष्य से दृष्टि ही हटा लेते हैं। कांग्रेस में जो दोष राजसत्ता का स्वाद चखने से हुआ, आपके दल में वह बिना सत्ता के ही विद्यमान है। अतएव एक संगठित व उत्थानशील राष्ट्रिय जीवन की निर्मिति के लिए संघ का दैनंदिन कार्यक्रम है, यह कथन भी निस्सार है।

आप कहते हैं, “विजयशाली की ही पूजा होती है” (पृ० २५८)। गीता की दृष्टि में सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय में समबुद्धि से युक्त कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति ही साधक रूप में आदरणीय होता है, परन्तु पूज्य तो स्वप्रकाश सत् सदा अनभिभूत परमेश्वर ही होता है। निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, ब्रह्म इसी दृष्टि से पूज्य होता है। देवता, ऋषि एवं सत्पुरुष उसी सत्स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होने वाले होते हैं इसीलिए पूज्य होते हैं। सत् को जानने एवं प्राप्त करने वाला भी सत्स्वरूप ही होता है। सत् को जानने एवं प्राप्त करने वाला भी सत्स्वरूप ही होता है, वेदान्तानुसार ब्रह्मयिन् ब्रह्म ही है, ‘ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति।’ इसके अतिरिक्त

ज्योतिस्वरूप सूर्य के संबंध विशेष से चन्द्र नक्षत्रादि भी ज्योतिष्मान् होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की उपासना के प्रभाव से उपासकों में भी ईश्वर का ऐश्वर्य सन्निविष्ट होता है, अतः उनकी पूजा भी फलदायिनी होती है। सिद्ध के अतिरिक्त साधक भी स्वधर्मनिष्ठा, कर्तव्यपालन आदि से सत्स्वरूप ब्रह्मनिष्ठ होकर भविष्यत् काल में ब्रह्मभाव को प्राप्त करते हैं, अतः उनका भी आदर करना उचित है। इस दृष्टि से बाह्य सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजय, नगण्य होने से कर्तव्यनिष्ठा के कारण बलिदान की भी पूजा होती है। इसी दृष्टि से ईसा आदि की भी पूजा हुई। सती एवं शूर बाह्य दृष्टि से सफल न होते हुए भी कर्तव्यनिष्ठा एवं परमार्थफलप्राप्ति सम्पन्न होने से पूज्य होते हैं। कौरव तथा पाण्डवों की संधि कराने के लिए श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में गये। जब विदुर ने सफलता के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाय तो कृष्ण ने स्पष्ट कहा कि यद्यपि संधि की सफलता में हम आशावान् नहीं हैं फिर भी धर्मकार्य के प्रयत्न का अलौकिक पुण्य प्राप्त होगा ही :-

धर्मकार्ययत्नशक्त्या नो चेत्प्राप्नोति मानवः ।

प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥

(म० भा० उ० प० १३/६)

धर्मशास्त्रविरुद्ध भी कोई राजनीतिक व्यवहार महान् धर्म के संस्थापन में उपयोगी होने से क्षम्य होता है, परन्तु धर्मशक्ति अधर्मशक्ति का निर्णय शास्त्र बिना स्वतंत्ररूप से नहीं हो सकता है। अतः साम्यवादी धर्मशक्ति है या अधर्मशक्ति, यह निर्णय भी शास्त्र बिना कैसे होगा ? आप किसी ग्रन्थ या पुस्तक या शास्त्र को प्रमाण मानते ही नहीं, फिर तो आप साम्यवादी को अधर्मशक्ति कह सकते हैं वे आपको ही अधर्म शक्ति कह सकते हैं, कौन से आचरण तथा आदर्श धर्मशक्ति के परिचायक हैं और कौन अधर्म शक्ति के परिचायक हैं, इनमें सिवाय शपथ के और आपके

पास कोई प्रमाण नहीं है। अस्त्रशास्त्रादि शक्ति सम्पन्न होना, अधर्मशक्ति का परिचायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महाभारत के अनुसार अर्जुन के पास पाशुपत अस्त्र था जो कि आधुनिक परमाण्वस्त्र से कहीं अधिक शक्तिशाली था, तो क्या अर्जुन को भी अधर्म शक्ति माना जाय ? फिर यहाँ तो साम्यवादी रूस से भी अधिक शक्तिशाली परमाण्वस्त्र साम्यवाद विरोधी अमेरिका के पास है। प्रमाण बिना प्रमेय का निर्णय नहीं हो सकता, धर्माधर्म में प्रमाण आर्य परंपरा के अनुसार अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्षधर्मग्रन्थ ही हैं। जब आप किसी ग्रन्थ को प्रमाण ही नहीं मानते, तब आप धर्माधर्म का निर्णय ही कैसे करेंगे ? फिर क्या धर्म संस्थापना और क्या अधर्म संस्थापना है, यह भी कैसे कह सकेंगे ?

“विजय के लिए संघर्ष समुचित उपाय है” (२६७ पृ०) यह ठीक है कि तिब्बत पर चीन का अधिकार होने देना भारतीय शासनाधिकारियों की सब से बड़ी भूल थी। यह भी ठीक है कि चीन का जिस ढंग से मुकाबला करना चाहिए था वैसा नहीं हुआ। परन्तु “सारी पीली चीनी जाति असभ्य है, अंग्रेज उससे सभ्य हैं” (२६९ पृ०)। यह सब कथन भी आवेश का ही परिचायक है। आप स्वयं कहते हैं कि गाली देना दुर्बलता है, किन्तु चीनियों को दैत्य (२६८ पृ०), सौजन्य-हीन, मानवोचित गुणहीन, सर्वभक्षी आदि (२६९ पृ०) की संज्ञा देकर वही दुर्बलता आप स्वयं दिखा रहे हैं। शक्तिशाली होना, प्रसार करना, अपनाना यह तो राजनीति में गुण है, दोष नहीं। फिर जब कि कम्युनिज्म के अनुसार संसार में जब तक कहीं भी पूँजीवाद रहेगा, तब तक साम्यवाद के लिए संक्रमण काल ही रहेगा, अतएव संसार भर को लाल बनाना साम्यवाद का अनिवार्य साधन है, तब उसके लिए उसका प्रयत्न होना स्वाभाविक होता ही है, उसमें विश्वासघात भी आ जाता है। इसलिए राजनीति में विश्वासघात करना भी उतना अपराध नहीं है जितना कि विश्वासघात का शिकार बनना।

आप और आपका संघ भी शास्त्रहीन होने के कारण ही राष्ट्र को विमार्ग की ओर अग्रसर कर रहा है। संघ के लोग जाति-विवेक को छोड़कर हिन्दू मात्र की रोटी-बेटी विषयक एकता की ओर बढ़ रहे हैं। आप के जनसंघी अध्यक्ष अटलबिहारी वाजपेयी हिन्दू मुसलमान रोटी-बेटी एकता के काम में सक्रिय जुट रहे हैं। इस प्रकार जब जाति सांकर्य, रक्त सांकर्य के कारण वस्तुभूत हिन्दुत्व मिट गया तो हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू संस्कृति की रक्षा की निस्सार घोषणा का क्या अर्थ होगा ? जब आप स्वयं कहते हैं "किन्तु उन्होंने (मुसलमानों ने) हमारी इस (उपकार) भावना का प्रतिदान कैसे किया ? विनाश, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारों की घटनाओं से भरा हुआ उनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बड़ी संख्या उनके द्वारा सम्पूर्ण देश में किये गये घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल टूटे हुए स्मारक ही नहीं बरन् टूटे हुए समाज के टुकड़े भी उनके द्वारा किये गये विध्वंस के उसी प्रकार साक्षी हैं" (२९२)। फिर उनके साथ रोटी-बेटी एक करके आप उन्हें किस छूमन्त्र से आत्मसात् कर लेंगे।

यह ठीक है कि हमारे सैनिकों का त्याग एवं उत्साह प्रशंसनीय है। उन पर हमको गर्व होना चाहिए। उनको यह अनुभव भी होना चाहिए कि सम्पूर्ण समाज हमारे पीछे है। साथ ही उनमें उत्साह भरने के लिए अपने शास्त्र एवं धर्म तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक आदर्श पुरुषों के प्रति सम्पूर्ण राष्ट्र की अखण्ड निष्ठा स्थिर नहीं रह सकती है। यह कहना भी निस्सार है कि "संघ पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचालित करने में जुटा है। वह जीवनदायी आदर्श, सद्गुण एवं चारित्रिक संस्कार देते हुए बढ़ रहा है" (२९५०) कारण यह कि शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्म विमुख होने के कारण संघ के चरित्र एवं संस्कार सब मनःकल्पित होने

से निरर्थक एवं हानिकर हैं। संघ के संसर्ग से जाल फँस, झूठ, बेईमानी, विश्वासघात, धोखाधड़ी का ही राष्ट्र में फैलाव हुआ है। यह प्रत्यक्ष है।

अपने संघटनों की श्रेष्ठता सभी वर्णन करते हैं, परन्तु किसी राष्ट्रव्यापी कार्य को जिसमें अनेक शक्तियों का प्रयत्न है, उसे एक संघटन तक सीमित करने का प्रयास टिटिभदुरभिमान मात्र है। चीनी युद्ध में शस्त्रास्त्र की कमी एवं युद्ध नेताओं के अनुत्साह के कारण हुए राष्ट्र पराभव से प्रत्येक नागरिक उत्तेजित तथा सजग हो गया तथा राष्ट्र के कर्णधारों की निद्राभंग हुई और अतीत से शिक्षा ग्रहण करके कमी-पूर्ति के काम में संलग्न हो गये। पाकिस्तान युद्ध में भी भारतीय सफलता का वही बीज था। प्रायः भारतीय सैनिक दल-विशेष से संबंधित नहीं है। सौभाग्य से अब भी उनमें ईश्वर एवं धर्म के प्रति आस्था है। अपने पूर्वजों की परंपरा का गौरव उन्हें उत्साहित करता है। तभी तो उन दिनों सरकारी प्रसारणों में भी राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, भीष्म, द्रोण, महाराजा शिवाजी, प्रताप आदि के पराक्रमों एवं दानवीर कर्ण के दानशौर्य का महत्व गाया जाता था, और जागरुक उत्साह का यह जाज्वल्यमान उदाहरण था जो कि भारतीय वीरों ने विरोधियों के अभेद्य माने जाने वाले पैटन टैंकों का बड़े से बड़ा कब्रिस्तान बनाकर पाश्चात्यों को भी आश्चर्य में डुबो दिया।

आप कहते हैं “हम अपनी महान् सेना के समीप हैं तथा प्रतिष्ठित हुतात्माओं को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जिनके शौर्य एवं बलिदान द्वारा यह महान् दिवस राष्ट्र को प्राप्त हुआ.....उनके अपने जीवन का बलिदान.....श्रेष्ठ आत्माहुति आदि श्रेष्ठ बलिदान की भावना से राष्ट्र के लिए प्रेरणादायी होंगे” (३०० पृ०)। परन्तु पिछले पृष्ठों में ठीक इसके विपरीत लिखा है कि बलिदानी महान्, पर आदर्श नहीं (२५९ पृ०), बलिदान दुर्बलता का परिणाम है और भारतीय संस्कृति में बलिदान को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना है।अन्ततः वे असफल हुये और असफलता

का अर्थ है उनमें कोई गम्भीर त्रुटि थी (२६० पृ०), यह “राजपूतों का हतान्त्य हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय परन्तु फिर भी दुःखद अध्याय है (२६२ पृ०) यह तो ठीक है कि दुष्ट मनोवृत्ति का विनाश बिना किये पाकिस्तान या किसी राष्ट्र का युद्धसाधन, शास्त्रास्त्र, बमवर्षक राडार आदि के नष्ट करने मात्र से काम नहीं चलता, क्योंकि उनका निर्माण अनेक बार हो सकता है। परन्तु दुष्ट मनोवृत्ति के नाश के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दुष्ट मनोवृत्ति वाले मनुष्यों का ही विनाश कर दिया जाय। यह भी ठीक है कि राम को रावण के संहार का ही प्रयत्न करना पड़ा था, कृष्ण को भी कंस को ही मिटाना पड़ा था (३०२, ३०३ पृ०) परन्तु फिर भी इन उदाहरणों से भी उक्त तथ्यपूर्ण आदर्श का बोध नहीं होता। उक्त आदर्श तो यही है कि अहिंसा एवं सत्य आदि पवित्र धर्मनिष्ठ के प्रभाव से सदुपदेश द्वारा दुष्टमनोवृत्ति का विनाश करके सद्वृत्ति का निर्माण किया जाय। “दुर्जनः सज्जनो भूयात्” इत्यादि सदुक्तियों का यही अभिप्राय है। तथापि यह मार्ग सर्वसाधारण का नहीं है, प्रत्युत महान् सिद्धपुरुषों का मार्ग है।

शाखा के कार्यक्रम

अनुशासित ढंग से खड़े होना शास्त्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त करना, राष्ट्ररक्षा की भावना जागरूक करना, संसार के सभी सैनिक संघटनों में होता है, उससे अधिक संघ की कबड्डी में और क्या रहता है, फिर उसकी व्याख्या कितने ढंग की भी क्यों न कर ली जाय। श्री सदाशिव एवं मल्हारराव जैसा मतभेद स्वतन्त्र मस्तिष्कों में सदैव रहा है और रहेगा। माघ के अनुसार कृष्ण, सात्यकि, उद्धव एवं बलराम में भी विचार भेद रहा था। यदि संघ में ऐसे विचारों का कोई अस्तित्व मान्य नहीं हो तो पूर्वोक्त विचार स्वातन्त्र्य का गुणगान करना निरर्थक ही है। परन्तु लोकतन्त्र के अनुसार मतभेद होने पर भी बहुमत के अनुसार चलना अनिवार्य होता

है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि युद्ध के समय सभी सैनिक युद्ध छोड़ मतभेद के शास्त्रार्थ में लग जायें। अर्जुन और कृष्ण आदि जैसे अनुशासित वीर एवं दार्शनिक साथ-साथ हो सकते हैं, वैसे ही आज भी हो ही सकते हैं, तभी तो आज भी विभिन्न देशों में सैनिक भी शासक होते ही हैं।

कहा जाता है कि सैनिक अनुशासन में दण्ड के भय का भाव, धन और पद का लोभ भी रहता है। परन्तु संघ में एकत्व की भावना साहचर्य और लक्ष्य के लिए समर्पण की भावना ही आत्मसंयम एवं स्वतः स्वीकृत अनुशासन के लिए सदस्यों के व्यवहार को ढालती है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि भारतीय संस्कृति में गीता के अनुसार तो युद्धादि सभी कर्म कर्तव्यपालन बुद्धि से ही किये जाते हैं। शिक्षा ही नहीं प्रत्युत युद्ध के लिए भी सुख-दुःख लाभालाभ, जय पराजय में भी समत्व बुद्धि से युक्त होकर ही कर्म करना कहा गया है। अन्यथा पाप प्राप्ति कही गई है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभी जयाजयौ।

ततो योगाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ —गीता

वैसे तो अत्यन्त अकाम की भी कोई क्रिया नहीं है, संसार की सभी चेष्टाएँ काम का ही परिणाम हैं, इसीलिए जानाति, इच्छति अथ चेष्टते, ज्ञान इच्छा के पश्चात् ही कोई कर्म होता है। कबड्डी व्यायामादि खेल खेलने वाले सभी लोग स्वेच्छा से ही अनुशासन स्वीकृत करते हैं। सदा ही खेलों में भय और काम की कल्पना भी नहीं होती है। दार्शनिक व्याख्या चाहे जो भी कर ली जाय, परन्तु व्यावहारिक स्थिति तो कांग्रेसियों के अहिंसा, सत्य के संकल्प से भी गई बीती हालत संघ के स्वेच्छा स्वीकृत समर्पण की है। अतएव एक साधारण से निर्वाचन जीतने में जितना संधी कूदता है, नारा लगाता है, उतनी शायद ही कोई पार्टी

क्षुद्रता दिखलाती हो। संधियों के उत्तर भी स्वयं स्फूर्ति न होकर तोला रटन्त ही होते हैं, अतएव थोड़े से ही प्रश्नोत्तर में संधी की स्फूर्ति सत्ता खतम हो जाती है। आत्मसंयम क्षुद्रता एवं ओछापन को स्थान नहीं दे सकता, परन्तु संघ में माता, पिता, गुरुओं एवं शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए भले ही उच्चतर राष्ट्रिय आह्वान का नाम ले लिया जाय परन्तु गोरक्षा जैसे कार्य के लिए सत्याग्रह तक में संघ की प्रवृत्ति छल-छद्म से रिक्त नहीं होती। यदि स्वतः स्फूर्त प्रवृत्तियाँ हों तो फिर पद-पद पर संधी “ऊपर से आदेश आने पर ही सब कामों के करने का नियम है,” ऐसी दुहाई क्यों देता है। ऊँचे आदर्शों का उपदेश देना तो अच्छा ही है परन्तु ऐसा तो सभी स्वयंसेवक संस्थाओं में होता ही है।

वस्तुतः सच बात यह है कि जब संघ के लोग निराशा से व्याप्त होकर कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट आदि पार्टियों में जाने लगे और यह महसूस किया जाने लगा कि हमारी बनाई पकाई ईंट हमारे विरोधियों को इमारत बनाने के काम में आ रही है, तभी जनसंघ नाम की एक पार्टी अर्थात् स्वतन्त्र संघ का रूपान्तर बनाया गया है। उसमें सब कुछ संघ के ही लोग होते हैं तथापि संधी अपने को राजनीति से अलिप्त घोषित करते हैं। यह मिथ्याचार संघ के नैतिक पतन में और भी कारण बना है।

इसीलिए तो संघ के लोग धर्मग्रन्थों को मानने से भागते हैं क्योंकि शास्त्रानुसार तो खान-पान, विवाह आदि में तो जातिभेद का ज्ञान आवश्यक होता है। प्रत्येकवर्ष के संकल्प में जाति एवं गोत्र का उल्लेख होता है। इससे स्पष्ट है कि संघ का हिन्दुत्व, संघ की संस्कृति सर्वथा धार्मिक तथा शास्त्रीय परम्परा से बहिष्कृत है। हाँ, शास्त्रज्ञों के अनुसार वह जातिभेद घृणामूलक न होकर धर्म एवं शास्त्रमूलक ही होता है। रन्तिदेव जाति का आदर करते हुए भी एक अन्त्यज को भोजन देने से पीछे नहीं हटते फिर भले ही उससे उनको प्राणान्त बाधा भी सहनी पड़े।

आत्मसंयम की प्रवंचना

श्री गोलवरकर शाश्वत मूल्यों के सिंचन पर जोर देते हैं। (वि०न० ३२ पृ०), पर वे स्पष्ट बता नहीं पाते कि क्या हैं वे शाश्वत मूल्य। परानुकरण का भी विरोध करते हैं। परन्तु दूसरों की अच्छी बातों को भी ग्रहण करना क्या बुरा है? अपनी बुरी बातों से भी चिपके रहना क्या अच्छा है? अथवा क्या आपके यहाँ खराब रूढ़ियाँ या बुर व्यवहार हैं ही नहीं? जिन ईश्वरीय एवं आर्ष शास्त्रों के द्वारा भलाई-बुराई सभ्यता, असभ्यता, भूषण, दूषण का निर्णय होता है, उन्हें पाप मानते ही नहीं। प्रत्यक्ष अनुमान एवं परंपराएँ तो और लोगों के पास भी हैं ही। फिर भी आप कैसे समझते हैं कि लोग आपके आदर्श का अनुकरण करेंगे।

आप कहते हैं कि हमारे राष्ट्र का सच्चा उद्धार मनुष्य निर्माण से होना चाहिए (वि०न० पृ० ३८)। यह ठीक है। परन्तु मनुष्य धर्म से बनता है। समाज का आधार हिन्दू समाज का गौरव उसके प्रामाणिक धर्म, दर्शन एवं सदाचारों पर निर्भर था। उसी आधार पर प्रतिष्ठा भी थी। परन्तु आज आत्मश्लाघा के सिवा वह कुछ भी आपके पास नहीं है। आप कहते हैं, “समाज ही ईश्वर का जीवित स्वरूप है” (वि०न० पृ० १९६), पर यह किसी भी शास्त्र में नहीं वर्णित है। ईश्वर का स्थूलरूप महाविराट् है। भारत एवं भारतीय समाज भी उसी का एक अंश होने से वह भी ईश्वर का एक अंश है। इसकी विशेषता तो इसके वेदादिशास्त्रों एवं तदुक्त कर्म, उपासना, ज्ञान, विज्ञानों से थी, पर उसकी आज उपेक्षा हो रही है। भारत का वैभव ज्ञान विदेशी लेखकों के आधार पर नहीं किन्तु भारतीय रामायण महाभारतादि आर्ष इतिहासों से ही प्राप्त हो सकता है, विदेशी विचारकों के उक्त लेखों में भारतीय वैभव का शुद्ध रूप नहीं मिलेगा।

“कृण्वन्तो विश्वमार्यम्” (ऋ०सं० ९/६३/५) का “विश्व के मनुष्य

मात्र को आर्य बताओ। (वि०न०पृ० १९८)" अर्थ नहीं है, ऐसा अर्थ-वेदभाष्यकार सायणादि से विरुद्ध है। वहाँ तो ऋत्विजों से संपूर्ण सोमदि हविः को संस्कारों द्वारा श्रेष्ठ बनाने के लिए कहा जा रहा है। अतएव वेद "तिस्त्रः पूज्याः आर्याः" के अनुसार ब्राह्मणादि तीन प्रकार की प्रजाओं को आर्य कहते हैं।

यह ठीक है कि भारत का प्राचीन गौरव एवं धन, धान्य, कला, कौशल, चिकित्सा, विज्ञान आदि की उन्नति अवश्य ही महत्वपूर्ण थी। आखिर हम इतने उन्नत होते हुए भी वर्तमान घृणित अवस्था में क्यों पहुँचे? धन, धान्य पूर्ण संस्कृति के इस देश में दुःख दारिद्र्य एवं अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुसा, आपने यह कभी सोचा? आपको यह कहना तो ठीक है कि विदेशी मुस्लिमों, अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जाल-फँसियों के कारण भारतीय सद्गुणों एवं वैभवों का नाश हुआ।

यह भी ठीक है कि हमारी जनसंख्या, सेना, नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान एवं प्रत्येक गुण भी जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थे....। इसी प्रसंग में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि "जिसकी बराबरी का संसार के समस्त राजनीतिक साहित्य में दूसरा एक भी ग्रंथ मिलना कठिन है, यह छोटा-सा ग्रंथ ऐसे विचारों का कोष है जिनकी स्वाभाविक एवं स्थायी श्रेष्ठता देशकाल की सभी सीमाओं से परे है" (वि०न०पृ० २००)। उपर्युक्त आपकी बातें बहुत ठीक हैं, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि आप फिर भी उस ग्रन्थ का प्रामाण्य और उसे अपना मार्गदर्शक नहीं मानते।

आप पंजाब को वेदों का जन्मस्थान मानते हैं और वेदों को पवित्रतम मानते हैं (वि०न०पृ० २०५) परन्तु देखते हैं कि आप उन पवित्र वेदों को भी अपने संघटन का आधार बनाने को तैयार नहीं हैं। आप यह

मानते हैं कि प्रान्त, दल, भाषा, पन्थ, सम्प्रदाय के नये तेष में परस्पर भृषा द्वेष का वही अभिशाप अपना मृत्यु नृत्य किये जा रहा है। (वि०न० पृ० २०७)। परन्तु यह नहीं सोचते कि हम सर्वमान्य या बहुमान्य वेदादि शास्त्रों, रामायण, महाभारत, मनु, गीतादि ग्रन्थों को जब तक अपना सरपंच मानकर उनके अधीन अपनी गतिविधि नहीं बनायेंगे तब तक कोरा रोना रोने मात्र से हमारा उद्धार कभी भी क्या हो सकता है ? यह भी आप मानते ही हैं कि राजसूय, अश्वमेधादि वैदिक यज्ञों के द्वारा सम्पूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न होता है। उसमें राज्यों की जनता का शोषण या दमन के सृदश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे-छोटे राज्यों में एक सर्वोच्च केन्द्रिय सत्ता के प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षामात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए उनको स्वतंत्ररूप से पहले के समान रहने को छोड़ देता था (वि०न०पृ० २०९)। पर इतना ही क्यों मान्यता आदि सप्तद्वीप अधिपति चक्रवर्ती हुए थे, अन्तर्राष्ट्रीय संघटन एवं सुव्यवस्था का संपूर्ण कार्य चक्रवर्ती राज्य पर ही निर्भर होता था। उसी से विश्व शांति एवं सुव्यवस्था बनी रहती थी।

क्या आप कभी अपने संघ को शास्त्र प्रामाण्यवाद का पाठ पढ़ाते हैं, “संध्या”, “सूर्यार्ध्य” के लिए प्रेरित करते हैं ? वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि के लिए कभी प्रेरित करते हैं ? जैसा वैसा भेड बकरियों का संघटन क्या कभी आंतरिक या बाह्य दुश्मनों का मुकाबला कर सकता है। यही कारण है कि अनेक दशकों से आप संघटन के ढोल पीट रहे हैं, परन्तु आपके शब्दों में भ्रंश, पतन के निदान भूतरोग उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं। क्या वेदादिशास्त्र प्राचीन संघटन का यही आदर्श था कि वेदाध्ययन तथा संध्या- वन्दनादि के ही समय प्रातः काल वेदाध्ययन एवं संध्या-वन्दनादि से विमुख करके बालकों एवं युवकों को काल्पनिक गीतों

एवं खेलों में फँसाये रखें और माता-पिता गुरु सब की ओर से ध्यान हटाकर किसी काल्पनिक ध्वज एवं गीतों में लगायें।

आप यद्यपि प्रतिक्रिया पक्ष का खण्डन करते हैं। पर क्या आपकी पुस्तक में ही मुसलमानों, अंग्रेजों एवं कांग्रेसियों की घृणित निंदित चेष्टाओं, दुर्नीतियों, दुर्गुणों के वर्णन में सैकड़ों पृष्ठ नहीं खर्च हुए हैं? वस्तुतस्तु शास्त्रदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति के लिए यह सब कोई नयी बात नहीं है। जब तक रोग का स्वरूप एवं निदान सम्यक् रूप से विदित नहीं होता तब तक चिकित्सा भी ठीक नहीं होती। यों तो दोष ही क्या गुण का देखना भी दोष है, गुण तो यही है कि गुण दोष दर्शन से सर्वथा विमुक्त रहा जाय :—

“गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।”

स्वयमेव मृगेन्द्रता

आप अपने संघ के संघटन का बखान करते हुए कहते हैं कि “संघ का यह अनोखा लक्षण है जिसमें साधनसाध्य एकरूप हो जाते हैं। जैसे भक्त के लिए भक्ति साधन एवं साध्य दोनों हैं। इसी प्रकार हमारे संघटन का कार्य जो समाज के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित स्वाधारित है। अपने निर्धारित पथ पर अखण्ड, एकाग्रता उन सिद्धान्तों की पूर्ण पकड़ के कारण उत्पन्न होती है, जो शाश्वत सामर्थ्यशाली एवं स्वाधारित है, राष्ट्रीय जीवन की जड़ों का निर्माण करती है, ऐसी एकाग्रता ने ही हमारे संगठन को अजेय, चिर उन्नतिशील बनाया है।” (वि०न०पृ० २१९, २२०)। परन्तु क्या जो स्वाधारित स्वप्रेरित होता है उसके लिए भी प्रयत्न आवश्यक होते हैं? दार्शनिक जगत् में सर्वकारण में ही स्वकारणत्व का, सर्वाधार में ही स्वाधारत्व का औपचारिक प्रयोग होता है। उसका बीज है “मूले मूलाभावादमूलं मूलम्”

संख्यसूत्र। भक्ति की स्वफलता का भी अर्थ यह है कि जैसे अपक्व आम्र ही पक्व का हेतु होता है, अर्थात् पक्व अपक्व दो अवस्थाओं के भेद से ही "हेतुहेतुमद्भाव" होता है, अत्यंत अमेद में तो कार्यकारण भाव कभी भी बन नहीं सकता। यदि राष्ट्रिय जीवन शाश्वत सामर्थ्यशाली एवं स्वाधारित है तब उसकी जड़ों का निर्माण क्या होगा? क्या वह बिना जड़ों के शाश्वत रहा है? यदि हो तो अब भी वैसे ही रहने दो "अव्यापारेषु व्यापारः" क्यों? पूर्व के अनेक पृष्ठों में आपने राष्ट्र की दरिद्रता, हीनता एवं दुरवस्था का वर्णन किया है, क्या उन सब अवस्थाओं के रहते हुए भी शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्र कहा जा सकता है? यदि भारतमाता के अंग-प्रत्यंग, छिन्न-भिन्न, क्षत-विक्षत ज्यों के त्यों बने रहें और दिनों दिन छिन्न-भिन्न होते रहें, देश में गो हत्या का काला कलंक चलता रहे, शास्त्र एवं धर्मघाती कृत्य होते रहें, धर्मशास्त्र विरोधी शासन दिनोदिन शास्त्र, धर्म, संस्कृति एवं देश का विनाश करता ही रहे और आपका संघ इन सम्बन्धों में कुछ न कर सका फिर भी अपनी सफलता का ही स्वप्न देखें तो- किमाश्चर्यमतः परम्?

भारत में आजकल कितने ही अवतार हैं जो अपने को सर्वशक्तिमान् ईश्वर मानते हैं, परन्तु क्या अवतारी के सामने भी गोहत्या होती रहे। देश, जाति, धर्म का पतन होता रहे। अवतार पुजते रहें। क्या यह संगत है? हाँ, यदि गोहत्या आदि समस्याएँ समाप्त हो जायँगी तो गोरक्षा के नाम पर चंदा बटोरने एवं वोट माँगने के काम में तथ अवतार-पूजा में बाधा अवश्य खड़ी होगी। परन्तु क्या डाक्टरों के अस्तित्व के लिए रोगों का बना रहना भी आवश्यक होता है? आगे आपने कांग्रेस के उद्देश्यों की चर्चा की। पर क्या कोई आपसे नहीं पूछ सकता कि- आपको वे उद्देश्य अभीष्ट हैं या नहीं? देश को स्वतंत्र, शक्तिशाली, सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, अहिंसक, प्रष्टाचारहीन तथा अखण्ड, अक्षत, निष्कण्टक बनाना

आपको अभीष्ट है या नहीं ? यदि है तो आप भी वैसा करने में कहीं तक सफल हुए, यदि नहीं तो मनः कल्पित उन्नति के आधार पर अपने को शाश्वत सामर्थ्यशाली, स्वाधारित, स्वप्रेरित मान लेने का क्या अर्थ है ? आज देश की त्रुटियों का आप स्वयं ही बड़े समारोह के साथ अन्य लोगों के सम्बन्ध से वर्णन कर रहे हैं, क्या वे सब त्रुटियाँ आपके शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्रिय जीवन के अनुरूप हैं ?

आगे आपने कांग्रेसी तिरंगे ध्वज की समालोचना की है। उसमें "भगवा रंग हिन्दुओं का, हरा मुसलमानों का, सफेद अन्य सभी जातियों का, भगवा त्याग का प्रतीक, सफेद पवित्रता तथा शांति का प्रतीक है—कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध स्वस्थ राष्ट्रिय दृष्टि कोण है, यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड़जाड़ है (वि० न० पृ० २२४)।" पर क्या आप बता सकते हैं कि आपका एक कौन-सा राष्ट्रिय ध्वज था ? भगवाध्वज राष्ट्रिय ध्वज कब था और इसमें क्या प्रमाण है ? महाभारत-संग्राम में तो अनेक वीरों के पृथक्-पृथक् ही ध्वज थे। अर्जुन ध्वज कपिध्वज नाम से प्रसिद्ध है, श्रीकृष्ण का गरुडध्वज, सूर्यवंशियों का सूर्यध्वज था। किसी राजा ने संन्यासी भक्त होने से भगवाध्वज बना लिया तब से उसके राज्य में भगवाध्वज चल पड़ा। अब तक विभिन्न राज्यों के अपने-अपने पृथक्-पृथक् ध्वज चलते हैं। नेपाल हिन्दू राष्ट्र है। उसका ध्वज भगवाध्वज न होकर अन्य ही ध्वज है। जिस राज्य या समूह ने किसी भावना से अपने राष्ट्र के प्रतीक स्वरूप जैसा ध्वज मान लिया उसके लिए वही ठीक है। दृष्टि से त्याग, पवित्रता एवं शांति के प्रतीक रूप में भगवा रंग श्वेत एवं हरा रंग का समुच्चयभूत तिरंगा भी हो ही सकता है।

संविधान के सम्बन्ध की समालोचना ठीक नहीं है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि भारतीयता का आधार तो आपके पास भी कुछ नहीं। वेदादि

अपौरुषेय शास्त्र, मन्वादि आर्ष धर्मग्रन्थ, शुक्र-कौटिल्य आदि नीतिशास्त्र आप भी नहीं मानते। फिर जैसे कांग्रेसी वैसे ही आप संघी भी तो हैं। आप कहते हैं कि संविधान में भारतीय आदर्शों अथवा राजनीतिक दर्शनों की कोई झलक नहीं है (वि०न०पृ० २२५)। पर क्या आप ही उपर्युक्त आदर्शों, दर्शनों में किसी को भी मानते हैं? यदि नहीं तो दूसरों को भी कहने का आपको अधिकार कहाँ है?

आप कहते हैं “क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं जिन्होंने अपने आधार स्तम्भ को खो दिया उनको बहना ही पड़ेगा (वि०न०पृ० २२५)।” परन्तु क्या आपका कोई आधार स्तम्भ है? कोई धर्मग्रन्थ, कोई दार्शनिक सिद्धान्त, कोई रामायण, महाभारत आदि इतिहास या राजनीतिक ग्रन्थ आपको मान्य है? यदि कुछ निराधार, शब्दजाल या गीत आपके लिए आधार हो सकते हैं तो कांग्रेसियों, कम्युनिस्टों के भी अपने विचार आधार हैं ही। पीछे आपने कहा था, हमारा शाश्वत सामर्थ्यशाली राष्ट्रिय जीवन स्वाधारित है। अब यहाँ ठीक उसके विपरीत लिखा है। हमारा सम्पूर्ण जीवन अपना जड़मूल ही खो बैठा है और इसीलिए बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है— इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में हम आज-कल अपने को खड़ा पाते हैं।” (वि०न० २२५)। वस्तुतः यही है वस्तुस्थिति, इससे भिन्न तो आकाशीय कल्पना की उड़ान या कोरी भावना हो सकती है। आवश्यक है कि इसी वस्तुस्थिति को समझकर इसे दूर करने का प्रयत्न किया जाय। जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता कुछ गीतों एवं खेलों के आधार पर कुछ हजार या लाख लड़कों की कवायद, परेड करा लेने मात्र से सफलता एवं सिद्धि की कल्पना करनी अदीर्घदर्शिता है। बहुत बार हमलोगों ने धर्मसंघ के बड़े यज्ञों में कई लाख मनुष्यों को एकत्रित किया था, परन्तु क्या उसी से अपने आपको कृतार्थ मान लेना समझदारी होगी? अतएव उसके लिए मनमानी नहीं किन्तु शास्त्रीय परम्पराओं

के अनुसार संघटन की आवश्यकता है, कह देने मात्र से स्वार्थपरता, मतभेद एवं अनुकरण की दुर्गन्ध को नहीं रोका जा सकता।

आगे के पृष्ठों में आपने कांग्रेसी शिविरों एवं उनकी खैण प्रवृत्तियों एवं अमरीकी तथा फ्रांसीसी खैण प्रकृति का वर्णन करके अपने संघ का ही गौरवगान किया है। अवश्य ही यौन संबंध से प्रभावित साहित्य द्वारा राष्ट्र एवं सभ्यताओं का विनाश होता है और उससे प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं जाति तथा व्यक्ति को सावधान रहना आवश्यक है। परन्तु उसके लिए भी शास्त्रीय धर्माचरण अपेक्षित होता है। तभी तो वेद स्वयं कहते हैं "अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते।" अविद्या अर्थात् विद्याभिन्न विद्या सदृश वैदिक काम कर्म-ज्ञान से ही पाशविक स्वाभाविक काम कर्म-ज्ञान का अतितरण करके अधिकारी प्राणी विद्या उपासना या तज्जनित विद्या तत्त्वज्ञान के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। इतिहास साक्षी है, बौद्धों ने वेदादिशास्त्रों का सम्बन्ध छोड़ दिया। ज्ञान, वैराग्य, संन्यास, योगसाधना की ओर बढ़े, और खूब बढ़े, कुछ-कुछ लोग सिद्ध भी हुए, परन्तु शास्त्र विहीन स्वार्थ-हित मार्ग अपनाने के कारण उनका पतन हुआ। सहजयान, बज्रयान कई साधनाओं में वैराग्य के स्थान में राग का प्राधान्य हो गया, उसी कारण उनका पतन भी हुआ। संघ में भी शास्त्रध्यान सन्ध्यावन्दन, शास्त्रीय सदाचारों- माता पिता गुरुजनों की आज्ञापालन आदि प्रवृत्ति का नितराम् अभाव है। चालाकी, चतुरता, जाल फरेबी, धोखाधड़ी का विस्तार आवश्यकता से भी अधिक है। फिर कोई स्थिर शास्त्र आधार न होने से किसी भी सदाचार में स्थिति कैसे रह सकती है ?

अवतारों की "संधी" व्याख्या "महान् व्यक्तियों को देवत्व प्रदान" इस शीर्षक को (वि० न० २५३ पृ०) कई पृष्ठों में आपने लिखा है। दुर्भाग्य से पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की परंपरा में विकृति आ गई है। यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्" के अनुसार यह भ्रमपूर्ण विश्वास हुआ

कि ऐसे सब महापुरुष अति मानव है। सर्वसाधारण लोग इनको देवता की श्रेणी में ढकेल कर अपने आपको परिस्थितियों का दास समझकर प्राप्त कर्तव्य से पलायन करता है। परमात्मा पृथ्वी पर से मुझे विपत्तियों के भँवर से मुक्त कर किनारे पर लगाये। आप अवतारों की पूजा की अपेक्षा उनके आदर्शों के अनुकरण पर ही बल देते हैं और कहते हैं कि उद्यम ही सर्वशक्तिमान है (वि०न०पृ० २५६)। यह ठीक है, पुरुषार्थ के साथ दैवी बल की भी अपेक्षा होती है, जैसे दो पंख से पक्षी उड़ता है, वैसे ही दैव एवं पुरुषकार दोनों मिलकर ही कार्यसिद्धि के हेतु होते हैं।

(जाति, राष्ट्र और संस्कृति, एकीकरण क्यों नहीं? राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ और हिन्दूधर्म से)



माक्स और धर्म

भौतिकवादियों का कहना है कि “सभ्य मनुष्य का विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति सदा मंगलमय है, लेकिन असभ्य मनुष्य के लिए यह शक्ति निष्ठुर है, इसलिए सदा ही उसको विपत्ति में डालती रहती है। पत्थर जब गिरकर आदमी को घायल करता है, अचानक पेड़ की डाल टूट जाती है, तब यह सब प्रकार के भूतों या पेड़ के भूत की शैतानी को छोड़ कर और क्या है ? जब तक औजार-हथियारों के ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई, तब तक असभ्य मनुष्य भूतों को वशीभूत करने के लिए मन्त्र-तन्त्र के ही फेर में पड़ा रहा। हथियार-औजारों के ज्ञान बढ़ने के साथ-साथ प्राकृतिक शक्ति पर मनुष्य की प्रभुता बढ़ने लगी। “भौतिक शक्ति निष्ठुर ही नहीं है, बल्कि यह भलाई भी कर सकती है” जब इस धारणा का जन्म हुआ तब असभ्य मनुष्य के प्रेततत्त्व पर सभ्यता की मुहर पड़ी। प्रेत तत्त्व असभ्य मनुष्य का है, देवता-तत्त्व इसके ऊपर की सीढ़ी है- जो सभ्य मनुष्य का है। आदिम असभ्य मनुष्य के लिए प्रकृति निष्ठुर, भयावह है। प्रकृति के रहस्य का भेद जानकर सभ्य मनुष्य कहने लगा- ‘मंगलमयी विश्वजननी’ यह परिवर्तन अकस्मात् एक दिन में नहीं हो गया। आदिम भूत-प्रेतों ने सभ्य होकर यह रूप ग्रहण किया है। आदिम मनुष्य का प्रेत-तत्त्व सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़कर सूक्ष्म बन गया है। प्रकृति-जगत् को चलानेवाली है, असंख्य निष्ठुर प्रेतों की शक्ति और इसी प्राथमिक कल्पना का संशोधित रूप है देवताओं की कल्पना। ये सब

देवता प्रकृति जगत् के एक-एक हिस्से के मालिक हैं। ये भलाई भी करते हैं और बुराई भी कर सकते हैं। जल, अग्नि, वायु सभी प्राकृतिक शक्तियाँ किसी न किसी देवता के अधीन हैं। देव-समाज भी मनुष्य समाज के साँचे पर ढला हुआ है। ये असंख्य देवता घटते-घटते एक ईश्वर तक पहुँचे। सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़कर वस्तु-जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, त्यों-त्यों देवताओं की संख्या घटने लगी। मनुष्य ज्यों अगणित पदार्थों में एक मेल देखने लगा, त्यों देवताओं का बहुत्व भी एकत्व में परिवर्तन हो गया।”

“पहले भूत या चैतन्य ? इस प्रश्न का आदिम असभ्य जातियों के प्रेत-तत्त्व से बहुत निकट सम्बन्ध है। इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि आदिम असभ्य मनुष्य को जीवन की प्राथमिक बातें सोचनी पड़ी थीं। अनुमान के ऊपर प्रतिष्ठित मन्त्र-तन्त्रों के द्वारा उसको जीवन-धारण का कौशल सीखना पड़ा था। उसकी वह कोशिश चाहे जितने बचपन की हो, उसका मूल है— जीवन धारण की अभिलाषा। इसलिए जीवन-मरण के रहस्य ने आदिम मनुष्य को काफी चिन्तित कर डाला था। मनुष्य का शरीर जीवित-अवस्था में एक प्रकार का और मरने पर दूसरे प्रकार का क्यों होता है, जागरण, निद्रा, स्वप्न, रोग और व्याधि ये सब क्यों होते हैं, स्वप्न में जो मनुष्य-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वे सब क्या हैं ? स्वप्न में मनुष्यों की जो छाया-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वही शायद जीवन की कुंजी हैं, शायद इस छाया मूर्ति का शरीर छोड़ना ही मृत्यु है— असभ्य मनुष्य की प्रेतात्मा की धारणा इसी प्रकार बनी है। यहाँ इस धारणा की ऐतिहासिक आलोचना करने की आवश्यकता नहीं, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यही प्रेतात्मा सभ्यता के साबुन में धुलकर चैतन्य परमात्मा आदि बन गयी है। मानव आत्मा के विषय में असभ्य जातियों की धारणा है कि यह सूक्ष्म भाप की तरह है। इसके शरीर त्याग देने से मृत्यु हो जाती है।”

“मनुष्य तथा अन्य उन्नत प्राणियों के शरीर-धारण के लिए श्वास क्रिया बहुत ही आवश्यक है, मारते समय श्वासक्रिया क्षीण होते-होते बंद हो जाती है। आदिम असभ्य जातियों ने भी इसको देखा था। इसीलिए श्वासक्रिया को ही उन्होंने आत्मा मान लिया था। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों की भाषा में “श्वास” और “आत्मा” इन सब के लिए एक ही शब्द है। हिब्रू तथा सभी आर्य भाषाओं के भाषा-विज्ञान में श्वास और आत्मबोध शब्दों का निकट सम्बन्ध है। यूनानी “साइक” और “न्यूमा”, “लैटिन “एनिमस”, “एनिमा”, “स्पिरिट्स”, इनका रूप परिवर्तन इसी प्रकार से हुआ है।”

इस पर कहना यह है कि यद्यपि मस्तिष्क अतिभौतिक प्रतीत न हो तथापि यह तो नहीं कहा जा सकता है जिससे जो निश्चित हो, वह उसका स्वरूप ही होता है। यदि ऐसी ही बात हो तब तो ज्ञान से ही सब ज्ञेय निश्चित किया जाता है, यहाँ तक कि मस्तिष्क भी ज्ञान से ही निश्चित किया जाता है, फिर क्या भौतिकवादी सबको ही ज्ञान स्वरूप मानने को तैयार हैं? यदि नहीं, तब तो भले ही भौतिक मस्तिष्क से ही ईश्वर विदित हो, परन्तु वह भौतिक नहीं कहा जा सकता। स्वयं इन्द्रियाँ नीरूप एवं सूक्ष्म हैं, परन्तु उनसे रूपादिमान् स्थूल प्रपञ्च विदित होता ही है। इसी तरह मस्तिष्क आदि द्वारा अभौतिक आत्मा, ब्रह्म आदि का बोध होता है। परिवर्तनशील भौतिकवादियों का भूत ही नयी-नयी पोशाकों में भले उपस्थित हो, उपनिषदों का ब्रह्म तो सदा से ही औपधिक रूप में अनेक रस और निरुपाधिक रूप से एकरस ही कहा है और वैसे ही रहेगा। जिसको भौतिकवादी वस्तु कहते हैं, वही अवस्तु है। जिसे वे अवस्तु समझते हैं, विचार की दृष्टि से वही वस्तु है। स्थूल दर्शी पट को सत्य मानता है, परन्तु एक सूक्ष्मदर्शी तन्तुभिन्न पट को ही असत् कहता है। इसी तरह कारणपरम्परा का विचार करते हुए तन्तु

भी अंशुक से भिन्न असत् है। अंशुक भी बिनीला मात्र है, बिनीला भी पृथ्वीमात्र है, पृथ्वी जलमात्र ही है, जल तेज से भिन्न होकर कुछ नहीं ठहरता। तेज वायुमात्र है, वायु आकाशमात्र ठहरता है, किन्तु स्थूलदर्शी को यह सब ढोंग ही जँचता है।

अन्तिम सत्य का विचार सर्वदा ही उपयुक्त है, चाहे श्रेणी विभाजित जीवन हो, चाहे समष्टिवादी जीवन। सभी के लिए विश्वेष्टशून्य, निष्पंच, सत्य, स्वप्रकाश ब्रह्म अपेक्षित है। इन्द्र भी अनन्त आनन्द सामग्री भुलाकर निष्पंच सौषुप्तसुख की ओर प्रवृत्त होता है। कोई कितना भी निर्द्वन्द्व, शान्त एवं सुखी क्यों न हो, सुषुप्ति की निष्पंचता के बिना उसे विश्राम नहीं मिलता। “ईश्वर को न युक्ति से जाना जा सकता है, न उसे प्रकाशित किया जा सकता है” यह काण्ट का कथन; तथा “ईश्वर बाड्मनसगोचर नहीं है” यह हिन्दू दर्शनों का कथन, यह सिद्ध नहीं करते कि ईश्वर अवास्तव एवं असत् है। किन्तु उनका अभिप्राय यही है कि श्रद्धा, समाधान तथा एकाग्रता के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता। ईश्वर के अस्तित्व में अनुमान, आगमादि अनेकों प्रमाण हैं। श्रुति ब्रह्म या आत्मा को साक्षात् अपरोक्ष ही बतलाती है— “यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।” (बृहदा० उ० ३/५/१) विज्ञाता प्रमाता प्रमाणानपेक्षरूप से ही स्वतःसिद्ध होता है। संशय, विपर्यय एवं अज्ञान मिटाने के लिए ही प्रमाण अपेक्षित होते हैं। आत्मा अन्यत्र संदिग्ध होता हुआ भी स्वयं असंदिग्ध है, अन्यत्र विपर्यय ज्ञानवान् होता हुआ भी स्वयं अविपर्यस्त रहता है। अन्यत्र अनुमान होता हुआ भी (अनुमान करता हुआ भी) स्वयं अपरोक्ष रहता है। फिर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि सभी जिस अखण्ड बोध के अनुग्रह से भासित होते हैं, उसे किससे सिद्ध किया जाय? यही बात “विज्ञातारमरे विज्ञानीयात्” इत्यादि श्रुतियों द्वारा कही गयी है।

अतएव प्रमाणसिद्ध एवं स्वतःसिद्ध ईश्वर या ब्रह्म परमकल्याणकारी

होने से ग्राह्य, उपास्य एवं ज्ञेय है। अनादि स्वतःसिद्ध वस्तु को बुद्ध्यासिद्ध करने के लिए युक्ति, श्रुति आदि अपेक्षित होती हैं। इतिहास घटनाओं का ही होता है, फिर भी औपचारिक रूप से "तद्ध्येदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्", "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्", "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इत्यादि श्रुत इतिहास के आधार पर सर्वकारण-स्वप्रकाश ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। तदनुगुण युक्ति भी श्रुति ने ही दी है। जैसे अन्न (पृथ्वी) रूप अंकुर से जलरूपी बीज का पता लगता है, जलरूपी अंकुर से तेज रूपी मूल का पता लगता है, वैसे ही तेजरूपी अंकुर से सद्रूपी मूल का पता लगता है— "तेजसा सौम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ दार्शनिक पण्डितों के इन तत्त्वविचारों को गलत कहना बुद्धि की अजीर्णता का ही द्योतक है। वास्तविक अभिज्ञता और व्यावहारिक ज्ञान से तो भौतिकवादियों ने ही शत्रुता कर रखी है। विश्व के उपादान कारणरूप से, विश्व के निमित्तकारणरूप से, विश्व के आधार या अधिष्ठानरूप से, विश्व के प्रकाशक तथा व्यवस्थापकरूप से, कर्मफलदातारूप से, सर्वशासक रूप से ईश्वर की सिद्धि होती ही है। जैसे दर्पण के अन्दर प्रतिबिम्ब भासित होता है, वैसे ही अनन्त चिद्रूप दर्पण में मनुष्य, पश्चादि, जंगम-स्थावरादि सभी प्रपञ्च भासित होते हैं। काष्ठ पर व्यक्त अग्नि को काष्ठ से भिन्न समझना ही पड़ेगा, ज्ञान या चेतना को मनुष्यादि देहों से भिन्न समझना ही पड़ेगा।

आदिम जंगली मनुष्यों के वस्तु और चेतना सम्बन्धी विचारों को इतिहास के बल से सिद्ध करने की दुश्चेष्टा निराधार है। यह इतिहास कपोल कल्पित, मिथ्या एवं पूरा मनगढ़न्त है। जड़वादियों का इतिहास सम्बन्धी मनोराज्य केवल विनोद का विषय है। कोई प्रमाणचक्षुपुरुष इसे केवल भौतिकवादियों का दिमागी फितूर ही कहेगा। प्रामाणिक आस्तिकों के इतिहासों के अनुसार तो विश्वकारण ईश्वर की संतानें ईश्वरीय ज्ञानरूप वेदादि शास्त्रों द्वारा पूर्णरूप से शिक्षित ही होती हैं। उत्तरोत्तर जहाँ कहीं

सच्चिदानन्द एवं सत्संग में विच्छेद हुआ, वहीं असभ्यता, अज्ञता एवं मिथ्या धारणाएँ बनती हैं। भौतिकवादियों की यह धारणा नितान्त असत्य है कि "अध्यात्मवादियों की अतिभौतिक देवता, ईश्वर या ब्रह्म इत्यादि कल्पनाएँ हैं और इनका मूल असभ्यों जंगलियों की तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत की कल्पनाएँ हैं।" जिन्होंने सच्चे इतिहासों का अध्ययन किया है, रामायण, महाभारत, पुराणों, उपपुराणों, तन्त्रों, आगमों एवं मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों एवं उनके आरण्यक, उपनिषदों का मनन किया है और जिन्होंने व्यास, वसिष्ठ एवं श्रीकृष्ण भगवान् के दिव्य दर्शनों का अध्ययन किया है, उनको यह समझने में कठिनाई न होगी। भौतिकवादी जिन बाह्यभौतिक वस्तुओं को सत्य मानते हैं, देवता, ईश्वर, ब्रह्म की बात तो पृथक् रहे भूत-प्रेत की कल्पना भी उनसे अधिक सत्य है। इसीलिए उपनिषद् या गीता के जिस निर्गुण ब्रह्म को भौतिकवादी अन्तिम कल्पना मानते हैं, उस कल्पना के साथ भी भूत-प्रेत एवं देवताओं की कल्पनाएँ हैं। यह समझना नितान्त भ्रम है कि विकासक्रम से भिन्न-भिन्न कालों की ही यह कल्पनाएँ हैं। एक उच्चकोटि का ब्रह्मदर्शन परमार्थ-दृष्टि में सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य ब्रह्मतत्त्व बतलाता है। परन्तु वही अन्य अधिकारियों के लिए ईश्वर की उपासना बतलाता है। कुछ और ढंग से अधिकारियों के लिए सगुण ईश्वर की आराधना, अन्य लोगों के लिए विभिन्न देवताओं की आराधना बतलाता है। अन्य ढंग के लोगों के लिए प्रेत-पिशाच की आराधना भी उचित मानता है। 'बृहदारण्यक' आदि उपनिषदों में भी निर्गुण ब्रह्म, ईश्वर और साथ ही साथ अनेक देवताओं का भी वर्णन है। भारत, रामायण आदि में तो सब का वर्णन है ही। यदि पिछली-पिछली कल्पनाएँ उत्तरोत्तर कल्पनाओं की दृष्टि से असत्य हैं, तब तो उनको मिथ्या ही कहना चाहिए। किसी के लिए भी उनकी ग्राह्यता एवं उपासना का उपदेश कैसे हो सकता है? इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से प्रेत, पिशाच आदि सभी तत्वों का अस्तित्व है।

प्रेतादि केवल कल्पना नहीं, उनकी देवयौनि में गणना है। परलोक-विद्या वालों की दृष्टि से प्रेत-तत्व की सिद्धि होती है। भूतावेश, प्रेतावेश आज भी वैसे ही सत्य वस्तु है, जैसी पुराने काल में। इसके अतिरिक्त भौतिकवादियों की प्रेतकल्पना का युग कितना पुराना है? जब मानव का इतिहास ही लाखों नहीं हजारों ही वर्षों का है, तब उनके प्रेतकल्पना का युग भी उनकी दृष्टि में हजारों वर्ष का ही पुराना है। परन्तु आर्य इतिहास के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की कल्पना तो लाखों वर्ष पुरानी है। द्वापर के कृष्ण, त्रेता के राम और सृष्टि के मूल कारण ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की अतिप्राचीन दृष्टि में भी निर्गुण ब्रह्म की सत्ता स्वतः सिद्ध है। भौतिकवादियों के तथाकथित मनगढ़न्त मिथ्या इतिहासों की सत्यता कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतएव जागरण, निद्रा तथा स्वप्न के आधार पर देह-भिन्न आत्मा का निर्णय करना, प्राणधारण से जीवन, प्राणराहित्य से मरण आदि की धारणा जंगली असभ्यों की नहीं, किन्तु सभ्यशिरोमणि महादार्शनिकों की भी यही धारणा थी और आज भी है। श्री शंकराचार्य का कहना है कि जो स्वप्न, जागर एवं सुषुप्ति को जानता है, वही आत्मा है, भूतसंघ नहीं— 'यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।' भागवत में कहा गया है कि स्वप्न, सुषुप्ति बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, जिस द्रष्टा से इनका बोध या प्रकाश होता है, वही अध्यक्ष पर पुरुष है 'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।' ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥' (श्रीमद्भा० ७/७/२५)।

इस शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में उसके भीतर अन्तर से भी अन्तरतम रूप से आत्मा को देखने की पद्धति लाखों वर्ष पुरानी है। जैसे मुँज में से बुद्धिमाँ से इषोका (सींक) निकाली जाती है, वैसे ही शरीर से, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार या आनन्दमय से, जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति से अन्वयव्यतिरेकादि युक्तियों द्वारा समझकर पृथक् रूप से आत्मा समझा

जाता है। शरीर के भीतर ही अ-तत् का त्याग करते हुए भगवत्तत्त्व को समझा जा सकता है— 'अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।' (श्रीमद्भा० १०/१४/२८) 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।' शरीर के भीतर बुद्धिरूपा गुहा में अभिव्यक्त अनन्त चित् स्वरूप आत्मा का उपलम्भ होता है। प्राण धारण के आधार पर जीवशब्द की प्रवृत्ति भी अतिप्राचीन ही है। यह हजार-दो हजार वर्ष के जंगली मनुष्यों की कल्पना नहीं, बल्कि यह कहना चाहिए कि अतिप्राचीन वास्तविक आर्षज्ञान का विकृत रूप अवशेष है। उपनिषदों ने मरने के सम्बन्ध में बड़ी ही गम्भीरता से विचार किया है। नचिकेता का प्रश्न ही मुख्य यही था— "ये प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।" (कठोप० १/१/२०) अर्थात् मरने के बाद जो यह संदेह होता है, कुछ लोग कहते हैं कि देह भिन्न आत्मा बँचा रहता है, कुछ कहते हैं कि कुछ भी बाकी नहीं बँचता, इसमें तथ्य क्या है? इसी पर यमराज ने वरप्रदान के रूप में अनन्त, सर्वाधिष्ठान, सर्वद्रष्टा आत्मा का निरूपण किया है।

देवताओं के सम्बन्ध में तो भगवान् व्यास की उत्तरमीमांसा में (१/३/९) शांकरभाष्य द्वारा स्पष्ट ही बतलाया गया कि "इन्द्रो ह वै देवानामभि प्रवव्राज" इत्यादि आख्यायिकाओं द्वारा ऐश्वर्यशील देवतातत्त्व का स्पष्ट बोध होता है। महादार्शनिक विद्यारण्य स्वामी ने सर्वाधिष्ठान ब्रह्म को अनिर्वचनीय तथा प्रकृतिविशिष्टरूप को ईश्वर बतलाया है। प्रकृति के सूक्ष्म कार्य समष्टि सप्तदशतत्त्वात्मक लिंगशरीर से विशिष्ट उसी ईश्वर को हिरण्यगर्भ बतलाया है और समष्टि स्थूलशरीर एवं स्थूलप्रपञ्चविशिष्ट उसी हिरण्यगर्भ को विराट् कहा है। ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्— तीनों ही ईश्वर के ही रूप हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों से विशिष्ट ब्रह्म ही तीनों रूपों में व्यक्त होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रपञ्च और उसका प्रत्येक अंश ईश्वर ही है। ईश्वररूप से आराधना करने पर इसीलिए निम्ब, पिप्पल, पाषाणादि भी

फलप्रद होते हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप यह पाँच रूप सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। नाम, रूप माया के अंश और शेष-अस्ति, भाति, प्रिय तीनों ब्रह्म के ही रूप हैं।

जंगली लोगों की विचारधाराओं का यह निष्कर्ष नहीं कि 'प्रेततत्त्व, जादूविद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद मनुष्य की चिन्ताधारा के विभाग को सीढ़ियाँ हैं और आध्यात्मवाद का मूल भीरुतामय प्रेतकल्पना ही है।' उसका निष्कर्ष तो यह है कि ईश्वर से निहित ऋषियों, महर्षियों के उच्च स्तर का ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान का ही विकृत अवशेष जंगलियों में मिलता है। उच्चकोटि का ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान कालक्रम से लुप्त हो गया। सच्चिद्वा, सत्संग लुप्त हो जाने से उदात्त विचार नष्ट हो गये। निम्नश्रेणी के प्रेतविद्या, जादूगरी आदि के भाव रह गये। अतः उस आधार पर चलने से भ्रम ही बढ़ेगा।

(माक्सवाद और राजराज्य, पृ० ५६३-५६८)



इतिहास क्या है ?

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादपर विचार करने के पूर्व यह समझना आवश्यक है कि "इतिहास" है क्या ? यूनानी भाषा में इतिहास (हिस्ट्री) का अर्थ जिज्ञासा होता है। मुसलमानों में शिक्षापूर्ण उस आदर्श का वर्णन ही इतिहास समझा जाता था। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक वाल्टेयर के अनुसार मनुष्य की मानसिक शक्ति का वर्णन ही इतिहास है, छोटी-छोटी घटनाओं का वर्णन इतिहास नहीं। उनके अनुसार शासकों का वर्णन भी इतिहास नहीं, किन्तु "मनुष्य जंगली से सभ्य कैसे हुआ", इस विकास का वर्णन ही इतिहास है। विज्ञान-वृद्धि से विज्ञान का अनुसरण इतिहास में भी होने लगा। प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, मुद्राओं, खण्डहरों द्वारा सत्य का अनुसंधान होने लगा। व्यूरी जैसी प्रसिद्ध लेखिका ने कहा कि "इतिहास एक विज्ञान है।" एक फ्रांसीसी लेखक का कहना है कि "इतिहास युद्ध विज्ञान है।" परन्तु दूसरे लोग कहते हैं कि इतिहास कभी विज्ञान नहीं हो सकता। लेख मुद्राओं के द्वारा भी सत्य घटनाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। लेखों में परस्पर विरोध भी होता है। कुछ लोग "इतिहास" को एक "कला" कहते हैं किन्तु कला में विशेष रूप देने के लिये वस्तु की कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है और ऐसा करने में सत्य अंश छिप जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि कला लेखन-शैली में होनी चाहिए और विज्ञान घटनाओं के अनुसंधान में होना चाहिए।

विश्व में पशु-पक्षी, कीटपतंग भी हैं, उनका प्रभाव भी इतिहास पर पड़ता है। १४वीं शती में यूरोप में प्लेग का भीषण प्रकोप हुआ था। उससे डेढ़ करोड़ मनुष्य मरे थे। इसके कारण वहाँ बड़ा भारी धार्मिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल हुआ था। इन सबका कारण चूहे ही थे। हैजा आदि भी कीटाणुओं के ही परिणाम हैं। नेपोलियन की अजेय सेना संग्रहणी के कीटाणुओं का शिकार बनकर रूस में नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी। जंगल नष्ट होने से जमीन का कटाव बढ़ गया। प्रकृति की उथल-पुथल से कितने ही साम्राज्य भूगर्भ में विलीन हो गये। कभी-कभी साधारण-साधारण घटनाओं से ही इतिहास का कायापलट हो जाता है। फ्रांस की क्रान्ति के दिनों वहाँ का राजा लुई भाग निकला। रास्ते में एक गाड़ी पड़ी होने के कारण उसका मार्ग रुक गया। गाड़ी हटाने में देर होते ही भीड़ एकत्रित हो गयी। राजा पहचाना गया और पकड़ लिया गया। यदि वह भागकर राजभक्त सेना में पहुँच गया होता तो क्या फ्रांस की क्रान्ति सफल हो सकती थी ?

हीगेल के अनुसार “इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने देता है। उनका फल वही होता है जो ईश्वर चाहता है।” ईंग्लैण्ड के डिल्टन मेर का मत है कि “संसार अज्ञातरूप से, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वर की ओर बढ़ रहा है—मेरे लिये इतिहास का यही अर्थ है।” यह भी पक्ष है कि इतिहास में निष्पक्षता हो ही नहीं सकती। लेखक जिस देशकाल में रहता है, उसका प्रभाव उस पर अवश्य होता है। अतः वह अतीत को भी वर्तमान के चश्मे से देखता है। जर्मन इतिहासज्ञों का कहना है कि “जर्मनी जंगलों, पहाड़ों, नदियों तथा जर्मन वीर-गाथाओं का गौरवपूर्ण वर्णन है इतिहास है।” एक इटालियन का कहना है— “यदि प्राचीन इतिहास के अध्ययन से हमें उत्साह नहीं बढ़ता तो फिर गड़े मुँहें खोदने की क्या आवश्यकता ?” कुछ लोगों का मत है कि इतिहास अपने को दोहराता रहता है। दूसरे

कहते हैं- “प्राचीन घटनाओं की पुनरावृत्ति असम्भव है।” कुछ लोग “विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियों का विस्तृत वर्णन ही इतिहास” समझते हैं। कुछ लोग छोटी से छोटी घटनाओं का भी इतिहास पर प्रभाव मानते हैं। मेर के अनुसार सार्वजनिक घटनाओं का क्रम-बद्ध वर्णन ही इतिहास है। प्रो० हार्नशा की राय में विश्व-घटनाओं की गति या उसके कुछ अंश का वर्णन इतिहास है। लार्ड एक्टन का कहना है कि विश्व का इतिहास राष्ट्रों के इतिहास का संग्रह नहीं किन्तु वह लगातार विकास है। वह स्मरण-शक्ति के लिए भार न होकर आत्मा के लिए प्रकाश है। “स्टडी आफ हिस्ट्री” के अनुसार “इतिहास का आधार राष्ट्र नहीं हो सकता। अपने राष्ट्र को ही विश्व मान लेना भूल है। वह तो विश्व का अंगमात्र है, इसी दृष्टि से उसका इतिहास लिखा जाना चाहिए।” मिस्टर वेल्स के अनुसार मानव जाति ही राष्ट्र है।

इस तरह इतिहास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणा होने पर भी इतिहास का उद्देश्य सत्य की खोज अवश्य होना चाहिए। इससे भिन्न उद्देश्य होने पर घटनाओं की खींचा-तानी तोड़-मरोड़ अवश्य करनी पड़ेगी। “आई फाउण्ड नो पीस” के लेखक मिस्टर वेन मिलर का कहना है कि “आँखों देखी घटना भी ठीक नहीं बतायी जा सकती। दो आदमी उसे भिन्न रूप से देखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना अलग ही चलती है। पत्रों, सरकारी लेखों में भी भाव बदले जाते हैं। फिर हजारों वर्ष पुराने इतिहास का वर्णन सत्य कैसे हो सकता है?” वस्तुतः इसीलिये रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहास के लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि प्रत्यक्षानुमान या संवाददाताओं के तारों, पत्रों के आधार पर नहीं, किन्तु समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संतुलन हुए थे। वैदिकों के यहाँ वेदार्थ जानने में इतिहास-पुराण का अत्यन्त उपयोग- “इतिहास पुराणाभ्यां वेदं

समुपबृंहोत्", पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थ-
शास्त्रश्चेतीतिहासः" (को० अर्थ० १/५/१४)। ब्रह्मादिपुराण, रामायण
महाभारतादि इतिहास बृहत्कथादि आख्यायिका, मीमांसादि उदाहरण, मनु
याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र औशनस बार्हस्पत्यादि अर्थशास्त्र ये सभी कौटिल्य
के अनुसार इतिहास हैं। शुक्र के मतानुसार किसी राजचरित्र वर्णन के
व्याज से प्राचीन घटनाओं का वर्णन ही इतिहास है-

प्राग्वृत्तकथनं

चैकराजकृत्यमिषादितः।

यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि ॥

(शुक्रनी० ४/२९३)

इतिहास के साथ पुराणों का भी सम्बन्ध अनिवार्य है; क्योंकि पुराण
में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रजापतियों के बाद की सृष्टि), वंश (कुल),
मन्वन्तर (प्रत्येक मनु के अधिकार का समय), वंशानुचरित (कुलवृत्त) का
वर्णन विशेष रूप से होता है। इतिहास केवल घटनाओं का वर्णन मात्र
हो तब तो केवल गड़े मुर्दों के उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह
जाता, अतः उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षोपदेश आवश्यक है।
इस तरह का कथायुक्त वृत्त ही इतिहास है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।

पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

(का० मीमां० म०टी० १/२)

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेशों से समन्वित कथायुक्त पूर्व
वृत्त का वर्णन ही इतिहास है। मानवजाति की प्रगति ऐतिहासिक क्रम से
इसी ओर होती रही है। (माक्सवाद और रामराज्य, पृ० ४२३-४२५)



इतिहास का वर्ण्य विषय

मार्क्सवादी कहते हैं कि “राजाओं, महाराजाओं, वीरपुरुषों का वर्णन करना इतिहास का लक्ष्य न होकर समष्टि जनता की स्वाभाविक जीवनस्थिति, उत्पादन-साधन और उनके परस्पर सम्बन्ध तथा उनके परिणामों का निरूपण ही इतिहास का मुख्य विषय होना चाहिए।” तदनुसार ही मार्क्सवादी प्राथमिक वर्गहीन समाज, फिर पूँजीपति और मजदूर, फिर मजदूर राज्य तथा पुनः वर्गविहीन समाज की स्थापना का इतिहास सिद्ध करके दिखलाते हैं। दूसरे लोग पाषाणयुग, लौह-युग, यन्त्र-युग आदि की कल्पना करते हैं। इतिहास के गोरखधंधे से अपने-अपने मतलब की चीज सभी निकालते हैं, विशेष प्रामाणिक आधार खोजे बिना ही कल्पना के महल खड़े किये जाते हैं। फिर ये सभी कल्पनाएँ हजार, दो हजार वर्ष के इतिहास के भीतर ही हैं। विशेषतः मार्क्सवादी विवेचन अधिकांश रूप में ४०० वर्षों की ही घटनाओं पर निर्भर है। लाखों-करोड़ों वर्षों के इतिहास की कौन-कौन सी घटनाएँ आधुनिक कल्पनाओं में साधक हैं, कौन-कौन सी बाधक हैं— इससे उनका कुछ भी मतलब नहीं। यही स्थिति अराजकतावादियों की भी है। घटनाएँ सब सकारण होती हैं। फिर भी सब घटनाएँ परस्पर एक दूसरे की कारण नहीं होतीं। कई स्थलों पर तो घटनाएँ अव्यवहित होने पर भी उनमें कार्यकारणभाव नहीं माना जाता। बाँव का बैठना और ताड़ का गिरना व्यवधान शून्य होने पर भी कार्यकारण-सम्बन्ध से शून्य होता है। इसी आधार पर बहुत-सी घटनाओं के सम्बन्धों

को काकतालीय ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणियों, देश तथा संसार के सौभाग्य-दौर्भाग्य दोनों ही चलते हैं। दौर्भाग्य से बुरी घटनाएँ और सौभाग्य से अच्छी घटनाएँ भी घटती हैं। अच्छी घटनाओं के मूल में सौभाग्य के अतिरिक्त सत्प्रयत्न का भी हाथ होता है। बुरी घटनाओं में दुर्भाग्य के अतिरिक्त प्रमाद, आलस्य, दुराचार, दुष्प्रयत्न का भी हाथ रहता है। रावण के हाथों भी बहुत सी घटनाएँ हुईं। युधिष्ठिर एवं दुर्योधनादि के द्वारा भी अनेक ढंग की घटनाएँ घटीं। देवों-असुरों से सम्बन्धित घटनाओं के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। बुरी घटनाओं का वर्णन बुरे कामों से बचने और सावधान होने के लिए होता है तथा अच्छी घटनाओं का वर्णन गुणग्रहण एवं प्रोत्साहन के लिए होता है। इसीलिये रामायण के अध्ययन से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि राम भरत आदि के समान वर्तना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं। महाभारत पढ़कर यह पाठ सीखना चाहिए कि युधिष्ठिरादि के समान वर्तन करना चाहिए दुर्योधन आदि के समान नहीं -

रामादिवद् वर्तितव्यं न तथा रावणादिवत् ।

युधिष्ठिरादिवत् वर्तितव्यं न दुर्योधनादिवत् ॥

सदाचार, सद्धर्म, सत्कर्म, सदुद्योग, सद्जनार्जन एवं सदुपयोग का शिक्षण ऐतिहासिक सद्घटनाओं से सीखा जा सकता है। सत्पुरुषों के भी कुत्सित आचारों का अनुसरण नहीं किया जा सकता। “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः” यह स्वभावोक्ति है। प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति श्रेष्ठ पुरुषों के अनुकरण करने की होती है, अतः श्रेष्ठ पुरुषों के शास्त्रानुसारी सदाचार-पालन का विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्राणियों को भी श्रेष्ठों के शास्त्रानुसारी सुचरितों का ही अनुकरण करना चाहिए, दुश्चरितों का नहीं। इसीलिए वैदिक ऋषि ने कहा है कि जो हमारे सुचरित हों उन्हें ही तुम आचरण में लाओ, दुश्चरितों को नहीं-

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि एवोपास्यानि, नो इतराणि ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/२)

अध्यात्म-दृष्टि से विज्ञान-वैराग्य की विवक्षा से ही विभिन्न महापुरुषों की घटनाओं का वर्णन किया जाता है। उक्त प्रयोजन से भिन्न वाग्वैभव से अन्य कोई परमार्थ नहीं है। श्री शुकदेवजी ने परीक्षित् को बतलाया था कि मैंने जो संसार में यश फैलाकर स्वर्ग जाने वाले महापुरुषों की कथाएँ कहीं हैं, उनका अभिप्राय विज्ञान-वैराग्य के प्रतिपादन में ही है। कितना ही बलवान्, बुद्धिमान्, धनवान्, सम्राट् क्यों न हो, सब को ही काल के गाल में जाना पड़ता है। स्वधर्मानुष्ठान, परोपकार एवं साक्षात्कार ही जीवन का सार है। प्रपंच का अधिष्ठान आत्मा ही सत् है। इस प्रकार वैराग्य, विज्ञान-सम्पादन के अतिरिक्त वाग्वैभव को छोड़कर कोई परमार्थता नहीं है। हाँ, जगत्कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन भगवान् की कथाओं का वर्णन तो भक्ति के लिए भी उपयोगी है—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां वित्ताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिाभीप्समानः ॥

(भागवत १२/३/१४-१५)

मार्क्सवादियों के मतानुसार, “वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष एवं वर्ग-विध्वंस का इतिहास ही इतिहास” माना जाता है, परन्तु वस्तुतः वही मानव का इतिहास नहीं है। वाद, प्रतिवाद, संवाद का भी यही ध्येय नहीं है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार, स्वधर्मानुष्ठान, क्षमा, दया, परोपकार, त्याग, तपस्या आदि ही इतिहास का ध्येय है। अवश्य ही खाने-कमाने, लड़ाई-झगड़े और संघर्ष की भी घटनाएँ होती हैं, परन्तु वे आदर्श एवं अनुकरणीय

नहीं है। उनके द्वारा उत्थानानुकूल रचनात्मक शिक्षा नहीं ग्रहण की जा सकती। मनुष्यों में ही क्यों, पशु-पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों में भी खाने-पीने विषयोपभोग के लिए संघर्ष चलता है। कड़ियों में तो खूब जमकर लड़ाई होती है। बंदरों, मुर्गों, तीतरों, भेड़ों आदि में भी गहरी लड़ाई होती है। उनमें भी जातिभेद के आधार पर प्राबल्य-दौर्बल्य होता है। मुर्गा में यह प्रसिद्ध है। किसी भी लड़ाई में दो गुट हो सकते हैं। मजदूरों की आपस में जब कभी लड़ाई होने लगती है, तब उनमें दो गुट बन जाते हैं। कभी जातिभेद से संघर्ष होता है, कभी धर्मभेद से, कभी जीविका भेद से और कभी सिद्धान्त भेद से भी संघर्ष चलता है। कई कूटनीतिज्ञों द्वारा कृत्रिम गुट बना डाले जाते हैं। आजकल तो स्त्री पुरुषों में भी संघर्ष उत्पन्न करने की चेष्टा चल रही है।

घटनाएँ चेतन के परतन्त्र होती हैं, किन्तु चेतन घटनाओं के परतन्त्र नहीं होता। चेतन की परतन्त्रता इसी प्रकार अस्थायी रूप से सम्भव होती है। जैसे एक दौड़ने वाले चेतन व्यक्ति ने अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छा से दौड़ना प्रारम्भ किया। वह दौड़ने, न दौड़ने या बैठ जाने में पहले स्वतन्त्र है; किन्तु बाद में दौड़ने से उत्पन्न होने वाले वेग के बढ़ जाने पर वह परतन्त्रता का अनुभव करता है। फिर उसे ठहरना होता है तो कुछ पहले से ही उसे अपनी गति मन्द करने का प्रयत्न करना पड़ता है। मोटर आदि का दौड़ना रोकने के लिए तो और भी पहले से गति मन्द करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। मनन करने वाला मन्ता चेतन मन का प्रयोक्ता है, वह स्वतन्त्र है। परन्तु मननजन्य वेग के बढ़ जाने पर मनन को सहसा रोक देना मन्ता के वश की बात नहीं होती। मनन रोकने के लिये मन्ता को यम-नियमादि अष्टांगयोग करने पड़ते हैं। आये दिन हम देखते हैं कि मनुष्य परिस्थिति बनाता है और उसका सामना करता है। यदि ऐसा न हो, प्राणी परिस्थिति का एक जड़यन्त्र ही

हो, तब तो पुरुषार्थ के लिये स्थान ही न रह जाय। वैज्ञानिक कितनी ही बार यन्त्रों के निर्माण में तथा संचालन में असफल होते हैं, कितनी ही बार रेल, मोटर एवं वायुयानों की दुर्घटनाएँ होती हैं। फिर भी हिम्मती लोग घबराने नहीं, संकटपूर्ण परिस्थिति का मुकाबला करते हैं।

सम्पत्ति-विपत्ति, अनुकूलता-प्रतिकूलता सभी में वाद, प्रतिवाद, संवाद की कथा जुड़ सकती है। उन्नति भी पाप-पुण्य, भलाई-बुराई दोनों की होती है। शैतानवर्ग की भी उन्नति एवं अवनति हो सकती है। सभी का समर्थन इतिहास से मिल सकता है। फिर भी सज्जन लोग सज्जनों के इतिवृत्त से ही शिक्षा ग्रहण करेंगे और सज्जनोचित उपाय से ही उन्नति का प्रयत्न करेंगे। आर्य, प्रामाणिक रामायण, महाभारत आदि इतिहासों के आधार पर तो बतलाया जा चुका है कि कृतयुग में सत्त्वप्रधान धर्मनियन्त्रित मनुष्य राज्य, राजा तथा दण्ड-विधान आदि के बिना ही एकमात्र धर्म से नियन्त्रित होकर सब काम आपास में ही चला लेते थे। उस समय सत्त्व-प्रधान एवं धर्म-नियन्त्रित होने के कारण अपराधी भी कोई नहीं होता था। इसका कारण यह भी था कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वच्छ परमेश्वर के अधिक संनिहित प्राणियों में स्वच्छता अधिक थी। जो वस्तु स्वच्छ कारण से अधिक संनिहित होती है, वह उतनी ही स्वच्छ होती है, जैसे आकाश से उत्पन्न वायु पृथ्वी की अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। तेज की अपेक्षा जल कुछ कम स्वच्छ है, परन्तु पृथ्वी की अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। पृथ्वी पार्थिव प्रपंच की अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। इसी तरह परमेश्वर से उत्पन्न ब्रह्मा और ब्रह्मा से उत्पन्न वसिष्ठादि महर्षि अधिक स्वच्छ, सात्विक एवं सर्वज्ञ थे। परमेश्वर से उत्तरोत्तर दूर परम्परासृष्ट प्राणियों के सत्त्व में तथा सर्वज्ञता आदि में भी उत्तरोत्तर न्यूनता आती गयी। तदनुकूल ही रजस्तमोगुण की वृद्धि होने से पाप एवं अपराध की भी वृद्धि होती गयी। जहाँ सत्त्व एवं धर्म की प्रधानता है, वहाँ धर्मनियन्त्रण ही पर्याप्त है। जहाँ सत्त्व एवं

धर्म की न्यूनता होती है, वहाँ बाह्य नियन्त्रण भी अपेक्षित होता है। जल की जैसे निम्न प्रदेश की ओर स्वभावतः प्रवृत्ति होती है, वैसे ही इन्द्रियों की अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। सुन्दर शब्द, सुन्दर स्पर्श, सुन्दर रूप, सुन्दर रस, सुन्दर गन्ध, सुन्दर भूषण-वसन, सुन्दर स्त्री आदि की ओर इन्द्रियों का स्वाभाविक खिंचाव होता है। इन्द्रियाँ और मन सुन्दरता मात्र देखकर किसी वस्तु की ओर प्रवृत्त होते हैं। “यह मेरा है या पराया, यह ग्राह्य है या त्याज्य”, यह विवेक तो धर्म-नियन्त्रित, शास्त्रसंस्कृत मन ही कर सकता है। मन के अधिक विषय प्रवण एवं रोगी ही जाने पर उसके नियन्त्रण के लिए फिर शास्त्र के अतिरिक्त नरक एवं राजदण्ड आदि का भय भी अपेक्षित होता है। यही कारण है कि जब सत्त्व धर्म में कमी हुई, रजोगुण, तमोगुण की वृद्धि हुई और अधर्म का विस्तार हुआ, तब इन्द्रियों पर नियन्त्रण भी कम हो गया। फिर तो राग-प्रणव मन सुन्दर परधन तथा परकलत्रादि के अपहरण में प्रवृत्त होने लगा। सभी ओर मात्स्य-न्याय फैला और प्रजा उद्विग्न होकर नियन्त्रण एवं व्यवस्था चाहने लगी, तभी परमेश्वरानुगृहीत, चन्द्र-सूर्यादि अष्टलोकपालों के अंशों से युक्त राजा का प्रादुर्भाव हुआ और उसपर भी धर्म का नियन्त्रण हुआ।

धर्म-नियन्त्रित राजा धर्म-प्रसार, दण्ड-विधान आदि द्वारा मात्स्यन्याय हटाने में समर्थ हुआ। वैवस्वत मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, दिलीप, गाधि, अलर्क, शिबि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, युधिष्ठिरादि राजा पूर्ण धर्म नियन्त्रित, दयालु, परोपकारी और प्रजारक्षणार्थ अपना सर्वस्व बलिदान करने वाले हो गये हैं। रामचन्द्र का प्रजारंजनार्थ सर्वत्याग प्रसिद्ध है। शिबि, रन्तिदेव आदि नरेन्द्रों ने केवल प्रजा के ही नहीं, पशु-पक्षियों तक के हितार्थ अपने राज्य, धन, प्राण सब कुछ का त्याग किया है। इन्हें शोषक एवं अन्यायी कहना शुद्ध उच्छृङ्खलता का ही प्रदर्शन करना है।

धर्म-नियन्त्रित राजा, जन-प्रतिनिधियों का शासन ही ऐहिक, आमुष्क, अभ्युदय और परम निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उसके बिना मात्स्य-न्याय फैलता है। सभी का शासन में भाग लेना सम्भव न होने से प्रतिनिधि की कल्पना करनी पड़ती है। प्रतिनिधि मुख्य से भिन्न होता ही है, किन्तु वह मुख्य का अपेक्षित एवं निश्चित कार्यकारी होता है। स्वेच्छात्मक संस्थाओं का अराजकतावादी संघ को भी तो यूरोप या संसार के लिए प्रतिनिधि निश्चित करना ही पड़ता है। हाँ, प्रतिनिधि योग्य होना उचित है। अराजकतावाद ही नींव है व्यक्ति और मार्क्सवाद की नींव है समाज। प्रथम पक्ष में समूह की स्वाधीनता की पहली सबसे बड़ी शर्त है व्यक्ति की स्वतन्त्रता। तदनुसार सब कुछ व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए ही होना चाहिए। दूसरे पक्ष में स्वाधीनता की सब से बड़ी शर्त है जनता की स्वाधीनता, अतः सब कुछ जनता के लिए ही होना चाहिए। रामराज्यवादी की दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि का अभेद है, अतएव दोनों का समन्वय ही सिद्धान्त है। समष्टि के द्वारा व्यष्टि को अभ्युदय की सुविधा मिलती है और व्यष्टि के द्वारा समष्टि का निर्माण होता है।

समाजवादी तथा अराजकतावादी दोनों ही के सिद्धान्तों के आधारभूत इतिहास अल्पदेशीय हैं। मार्क्स के अनुभव का क्षेत्र इंग्लैण्ड का श्रमिक आन्दोलन ही था। अधिक से अधिक फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड के, तत्रापि लगभग ४०० वर्ष तक के ही इतिहास पर उसका सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अतः उसका क्या प्रामाण्य ?

(मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ० ४५४-४५८)



धर्म और अर्थ

मार्क्सवादी कहते हैं कि धर्म, प्रेम या परोपकार के नाम पर सर्वस्व लुटा देने या प्राण न्योछावर कर देने का भी आधार आर्थिक ही है, क्योंकि सब कुछ संतोष-तृप्ति के लिये ही किया जाता है। अन्याय के विरोध में आत्मबलिदान करता हुआ भी प्राणी सब कुछ स्वार्थ के ही उद्देश्य से करता है। परन्तु यहाँ स्वार्थ का अर्थ व्यक्ति न समझकर श्रेणी समझना उचित है। समाज में व्यवस्था एवं शान्ति न रहने से समाज के नुकसान के साथ व्यक्ति का भी नुकसान होता है। समाज की रक्षा में ही व्यक्ति की भी रक्षा होती है; परन्तु जड़वाद के उपर्युक्त बातें संगत नहीं होती। जो देहमात्र को आत्मा मानता है देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा का नाश मानता है, वह आत्मा नाश के काम में कभी भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। आत्मा के नष्ट हो जाने पर समाज की रक्षा से फिर किसकी रक्षा होगी? जिसकी रक्षा के लिए समाज की रक्षा करनी है, जब उसका नाश सामने ही है तो उसकी रक्षा के लिए समाज-रक्षा की बात ही कहाँ उठती है? शान्ति या संतोष के लिए त्याग भी वहीं तक किया जा सकता है जहाँ तक जिसे शान्ति-संतोष चाहिए, वह बना रहे। जब शान्ति संतोष का भोक्ता ही नष्ट हो जायगा तो शान्ति-संतोष का सुख कौन भोगेगा? अध्यात्मवादी देहादि के नष्ट हो जाने पर भी सुख-शान्ति संतोष भोगनेवाली आत्मा को अमर मानते हैं। अतः उनका त्याग, बलिदान बन सकता है।

आत्म-कल्याण के लिए धर्मार्थ, परोपकारार्थ प्राणत्याग तक करना उनकी दृष्टि से उचित हो सकता है।

आध्यात्मवाद में भी दो प्रकार का स्वार्थ होता है—एक संकुचित और दूसरा वास्तविक। जहाँ “स्व” शब्द का अर्थ देहादि ही माना जाय वह संकुचित स्वार्थ है। वहाँ रोटी-कपड़े आदि लौकिक अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति ही स्वार्थ गिना जाता है। परन्तु जहाँ “स्व” शब्द का अर्थ देहादिभिन्न नित्य आत्मा माना जाता है, वहाँ स्वार्थ का अभिप्राय वस्तुभूतस्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार, परमेश्वर प्राप्ति अनर्थ निवृत्ति तथा परमानन्दस्वरूप मोक्षप्राप्ति ही है। यह सच्चा स्वार्थ कहा जाता है—“स्वारथ साँच जीव कहँ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू ॥” इसी वास्तविक स्वार्थ के अभिप्राय से कहा गया है कि “सब कुछ आत्मा के लिए ही होता है। सर्वभूत, सर्वलोक, सर्वदेव आदि में प्रेम सर्वभूत, सर्वलोक, सर्वदेव के लिए नहीं, किन्तु आत्मा के लिए ही होता है। “न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति” (बृहदा०३०)। परन्तु यहाँ प्रबोध होने पर व्यष्टि-समष्टि दो नहीं रह जाते। अविद्या-दशा में ही सर्व-स्वरूप आत्मा में असर्वता अध्यारोपित है। बोध होने पर अध्यारोपित असर्वता के बाधित होने पर स्वाभाविक सर्वता ही व्यक्त हो जाती है। अतः वास्तविक स्वार्थ समष्टि-व्यष्टि का एक ही होता है; परन्तु जड़वाद में यह सब सम्भव नहीं।

किसी के पैदावार का साधन छीनना सदा से सभी पाप समझते रहे। परात्र परद्रव्य मार्ग में पड़ा हो या अपने घर में ही कोई डाल गया हो तब भी नहीं लेते थे—“परात्रं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे। उदत्तं नैव गृहणीयादेतद्वाह्यणलक्षणम्।” दायभाग में प्राप्त अपनी बपौती सम्पत्ति को ही अपनी सम्पत्ति मानते थे। दान-पुरस्कार तथा परिश्रमार्जित को ही अपनी वैद्य सम्पत्ति मानते थे। फिर छीनने, अपहरण करने का उनसे

सम्बन्ध ही क्या हो सकता था ? लोक, परलोक, ईश्वर, धर्म न माननेवाला जड़वादी ही दूसरों की सम्पत्ति लेने की सलाह दे सकता है। वास्तविक दूसरे की गिरी हीरे की माला या लाखों का नोट बंडल जिसके हैं, उन्हीं को लौटा देने की सलाह देगा। परन्तु एक कम्युनिष्ट ऐसी सलाह दे ही कैसे सकता है ? आस्तिक की दृष्टि में सब मनुष्य ही नहीं, किन्तु सभी प्राणी परमेश्वर की सन्तान हैं। फिर भी शिष्य गुरु को, पुत्र माता-पिता को, पत्नी पति को, नौकर मालिक को पूज्य और अपने को सेवक मानते हैं। पूज्य को सेव्य समझते हैं। व्यवहार में वह सेव्य-सेवक-भाव मान्य होता है। अतएव आस्तिक किसी को गुलाम नहीं मानता। मनुष्य-मनुष्य में सेव्य-सेवकभाव चलता है। वह अब भी है और सदा रहेगा। नाम भले बदल जाय, पर वस्तु कभी नहीं बदल सकती। मिश्र के पिरामिड, यूनान एवं भारत की विशाल इमारतों के बनाने में गरीबों को रोजी और नौकरी मिली है, उनका पोषण हुआ है। उनकी सम्पत्ति छीनकर ये सब चीजें नहीं बनायी गयीं। सब सम्पत्ति गरीबों, मजदूरों की ही होती, तो वे गरीब और मजदूर ही क्यों होते ? मजदूरों ने पैदावार में हाथ बँटाया तो उसके बदले में वेतन पाया। कमाई में सारा फल मजदूर का ही है, यह सिद्धान्त असिद्ध है। हाँ, उनका जीवन उन्नत और समृद्ध हो इसके लिए आस्तिकों का सदा प्रयत्न रहा। फलस्वरूप वे सुखी भी रहे। देश में कोई दरिद्र, दुखी, अविद्वान् नहीं रहता था। “न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।” “नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं अबुध न लच्छन हीना।”

सभ्यता, संस्कृति, शिल्प, संगीत का विकास अमीर, गरीब, सब के ही हित की चीज है। रूसी विद्वान् साहित्य, संगीत, ज्योतिष के अध्ययन में संलग्न हो रहे हैं, एतावता क्या वे भी शोषक हो जायेंगे ? वैज्ञानिक लोग अनेक प्रकार के आविष्कार में लगे हैं, वे भी तो किसान-

मजदूरों की ही कमाई खाते हैं ? पर क्या वे शोषक कहे जायेंगे ? वस्तुतः जो भी अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, वे शोषक नहीं कहे जाते। शासक, शिक्षक, अन्वेषक यदि शोषक नहीं तो शिल्प, संगीत, साहित्य के अभ्यास में लगे लोग भी शोषक कैसे कहे जा सकते हैं ? श्रम के अतिरिक्त प्राकृतिक साधनों का भी उत्पादन में प्रमुख हाथ रहता है। अतः श्रम वालों को यदि लाभ का अंश मिलता है, तो साधन वालों का भी लाभ में हिस्सा होना अनिवार्य है। श्रमवाले को उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए और साधन वालों को लाभ। शरीर, मस्तिष्क, श्रमशक्ति भी वस्तुतः प्राकृतिक ही वस्तु है। मनुष्यों ने इतर यन्त्रों के सामन मस्तिष्क एवं देहों का निर्माण नहीं किया। जैसे इन प्राकृतिक साधनों से मनुष्य लाभ उठाता है, वैसे ही अन्य प्राकृतिक साधनों से दूसरों को भी लाभ उठाने का अधिकार है। मशीनों, कल-कारखानों के विस्तार से उत्पादन में वृद्धि, वस्तुओं की बहुलता से दाम में कमी होना, कम मजदूरों का उपयोग, अधिकों की बेकारी आदि का होना तो अनिवार्य है। परन्तु वच्चों एवं स्त्रियों से काम लेना, चार घंटे के बदले मजदूरों से बारह घंटे काम लेना, कम मजदूरी देना और उन्हें असहाय छोड़ देना आदि जुर्म है। यह कहीं भी हो, इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। यह सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक इतिहास की बात नहीं। अन्यान्य अनाचारों के समान यह भी शुद्ध उपद्रव ही है, जो सर्वथा हेय है। यह अतिरंजित बीभत्स वर्णन एक वर्ग के प्रति घृणा फैलाने के उद्देश्य से भी हो सकता है। वैसे रूस में विरोधियों के साथ लोग इससे भी अधिक भीषण दुर्व्यवहार की बात करते हैं।

भौतिकवादी ईश्वर एवं धर्म के सम्बन्ध में बहुत उलटा प्रचार करते हैं और कहते हैं कि "इस पक्ष में सब कुछ ईश्वर की इच्छा से ही होता है। मनुष्य के विचार भी ईश्वर प्रेरणा के ही अधीन होते हैं। ईश्वरवादी संसार को मिथ्या मानकर उससे भागने के ही फेर में रहते हैं।" वे कहते

है कि "इतिहास इस पक्ष का समर्थन नहीं करता।" परन्तु ये बातें बहुत ही छिछली हैं। लाखों-करोड़ों वर्ष का इतिहास वस्तुतः ईश्वरवाद का ही समर्थन है। ईश्वरवादियों ने ही बड़ा-बड़ा पुरुषार्थ किया है। समुद्र में सौ योजन का पुल ईश्वरवादियों ने ही तैयार किया है। अखण्ड भूमण्डल का साम्राज्य, पुष्पकविमान-जैसे वायुयान, हाईड्रोजन बम से करोड़ों गुना अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र ईश्वरवादियों ने ही प्रकट किये हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त दिव्य शक्तियों के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार भी उन्होंने ही किया है। एक देहात्मवादी उसी बड़े काम में हाथ लगा सकता है, जिसका फल वह जीवन में देख सके। उसके जीवन में जिसका फल सम्भव नहीं, उस काम में वह किस उद्देश्य से प्रवृत्त होगा? परन्तु आत्मवादी आत्मा को अमर मानता है, वह जानता है कि "इस जन्म में नहीं तो जन्मान्तर में मेरे प्रयत्न का फल होगा ही।" वह कोटि-कोटि जन्म तक भी किसी बड़े काम को पूरा करने का दृढ़ संकल्प कर सकता है—“जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौ संभु न त रहौ कुमारी॥” कई पीढ़ी के प्रयत्न करने से गंगा के लाने का प्रयत्न भी इसी कोटि का था। जैसे अंकुरोत्पत्ति में पर्जन्य साधारण कारण है, अंकुर के रूप, रस, फल आदि विचित्रता का असाधारण कारण पर्जन्य नहीं, किन्तु बीज की निजी विशेषता है, वैसे ही ईश्वर सर्व प्रवृत्तियों में साधारण कारण है। तत्तद्विशिष्ट फलों की प्राप्ति में प्राणियों के पुरुषार्थ ही मुख्य कारण हैं। प्राणियों के अपने पुरुषार्थ प्रमाद के अनुसार ही सफलता-असफलता चलती है। योगवासिष्ठ आदि में पुरुषार्थ का जितना जबर्दस्त समर्थन है, जड़वादी कभी भी उतने पुरुषार्थ की कल्पना नहीं कर सकते।

कई लोग आजकल कहते हैं कि “आस्तिक लोग जीने-मरने, स्वर्ग-नरक की ही चिन्ता में परेशान रहते हैं। इसीलिए उन्होंने लौकिक-भौतिक उन्नति में सफलता नहीं पायी। भौतिक लोग स्वर्ग-नरक की चिन्ता से

मुक्त थे, अतः वैज्ञानिक उन्नति में बढ़ गये।" परन्तु उनका यह प्रम है, हम भौतिक वैज्ञानिक उन्नति की चर्चा कर आये हैं। अलबत्ता आत्मा परमात्मा माननेवाला, स्वर्ग-नरक विश्वासी प्राणियों को परमेश्वर का अंश मानकर उन्हें सताने में सकुचायेगा। कोई प्राणी एक कारीगर के बनाये हुए खिलौने को बिगाड़ने में सकुचाता है, फिर कोई समझदार ईश्वर के बनाये प्राणियों को सताने का मौत के घाट उतारने से अवश्य सकुचायेगा। भौतिकवादी पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक से डरते नहीं, अतः भीषण से भीषण नरसंहार में, प्राणिसंहार में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं। उनका स्वार्थ भीषण से भीषण धृणित कार्य से भी सम्पन्न हो तो भी वे स्वार्थ-साधन के लिए तैयार हो जाते हैं। मार्क्स के दर्शन जीव-विकास एवं मृत्यु आदि की समालोचना पिछले प्रकरण में की जा चुकी है। डार्विन हैकल आदि के सिद्धान्त भारतीय दर्शनों की कसौटी पर मिनट भर भी नहीं ठहरते।

बहुत से समाजवादी मार्क्सवादी भी मार्क्स के अर्थ सम्बन्धी दर्शन से सहमत होते हुए भी उनके अध्यात्मविचार से सहमत नहीं होते। अनेकों लोग सजावादी होते हुए भी ईश्वर एवं धर्म में विश्वास रखते हैं। विशेषतः भारत में हजार में नौ सौ निन्यानबे समाजवादी धार्मिक एवं ईश्वरवादी होते हैं, परन्तु मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वे गलत रास्ते पर ही समझे जाते हैं। यह दुरंगा ढंग उनकी दृष्टि में सर्वदा अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि जब आत्मा-परमात्मा अस्तित्व विज्ञान एवं तर्कद्वारा सिद्ध नहीं होता तो वह क्यों माना जाय? ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं, किन्तु अनुभव का विषय है। ऐसे विश्वासों को अन्धविश्वास ही कहते हैं। उनके मतानुसार भूत-प्रेत की कल्पना के समान ही ईश्वर की कल्पना है। वे कहते हैं कि विज्ञान की उन्नति के लिए मनुष्य ने ईश्वर की कल्पना में भी उन्नति कर ली है। आरम्भकाल की भूत-प्रेत की कल्पना ही मध्यकाल में परिष्कृत होकर देवी-देवता के रूप में प्रकट होती है। अधिक प्रगतिशील युग में

देवी-देवता की कल्पना भी परिष्कृत होकर एक ईश्वर का रूप ले लेती है और परिष्कृत होकर वही कल्पना अद्वैत निर्गुण-निराकार ब्रह्म का रूप धारण कर लेती है।

माक्स का कहना है कि जो वस्तु है ही नहीं उसपर विश्वास करने से क्या लाभ ? और झूठी कल्पना से मनुष्य को क्या आश्रय मिलेगा ? और क्या उत्थान होगा ? सबसे बड़ी अड़चन यह है कि अध्यात्मवादियों के मतानुसार आत्मा-परमात्मा में परिवर्तन नहीं होता। सुतरां ईश्वर निर्दिष्ट धार्मिक-सामाजिक नियमों में भी रहोबदल नहीं हो सकता। परन्तु माक्स के मतानुसार कोई धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियम शाश्वत नहीं है। उनमें रहोबदल होता ही रहता है। तभी राष्ट्रीकरण समाजीकरण चल सकता है। ईश्वर मानना एवं उसके निर्दिष्ट नियम को न मानना यह अर्धजरतीयन्याय कैसे चलेगा ? अपरिवर्तनीय ईश्वर एवं धर्म को मानते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति-भूमि का समाजीकरण के नाम पर छीनना कथमपि नहीं हो सकता। माक्सवादी कहते हैं कि धार्मिक आध्यात्मिक विचारवाले समाज की प्रगति का सदा ही विरोध करते हैं। फ्रांस में वाल्टेयर ने कहा था कि यदि परमेश्वर नहीं है तो हमें स्वयं परमेश्वर गढ़ लेना चाहिए, क्योंकि उसका भय मनुष्यों को उचित मार्ग पर चलाने में सहायक होता है। परन्तु माक्स ऐसे काल्पनिक भय से लाभ की अपेक्षा हानि ही देखता है। उसे भय है कि ईश्वर मानने वाला व्यक्ति ईश्वरीय शास्त्र एवं ईश्वरीय नियमों को भी मानने के लिए बाध्य होता है। फिर उसे श्रेणी-संघर्ष एवं किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं भूमि के छीन लेने के सिद्धान्त में विश्वास जमना असम्भव हो जायगा।

वस्तुतः ईमानदारी की बात यही है कि माक्सवादी, ईश्वरवादी दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। अन्ततः जो ईश्वरवादी हैं उन्हें माक्सवाद छोड़ना ही पड़ेगा। माक्स की अर्थनीति ईश्वर एवं धर्म के रहते-रहते चल

ही नहीं सकती। ईश्वरवादी मार्क्सवादी बनकर या तो मार्क्सवादियों को धोखा देते हैं या अपने को धोखा देते हैं। जब भौतिक सूक्ष्म वस्तुओं के ज्ञान में अणुवीक्षण आदि अनेक साधन अपेक्षित होते हैं तब परमाणु एवं आकाश से भी परम सूक्ष्म अहं, महान्, अव्यक्त एवं इन सबसे परम सूक्ष्म स्वप्रकाश सत्स्वरूप परमेश्वर बिना साधनों के कैसे बुद्ध्यारूढ हो सकता है। स्वधर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धान्तःकरण प्राणी विवेक, वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा समाधान एवं मुमुक्षुत्व आदि से युक्त होकर उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र का विचार करने से परमेश्वर को समझ सकता है। शंकराचार्य उदयनाचार्य के तर्कों को सुनकर कोई समझदार पुरुष नहीं कह सकता कि ईश्वर भीरु मस्तिष्क की कल्पना है या अन्धविश्वास की चीज है। अभय सत्त्वशुद्धि ज्ञानयोग व्यवस्थितिपूर्ण तर्क एवं योगाभ्यासजनित एकाग्रता आदि जिसके समझने के साधन हैं उसे अन्धविश्वास की बात समझना बड़ी भयंकर मूर्खता है। “भूत-प्रेत की कल्पना ने ही परिष्कृत होकर निर्गुण ब्रह्म कल्पना का रूप ले लिया” यह कथन भी अनभिज्ञतामूलक है, लाखों बरस पहले से ही सबकी मान्यता साथ-साथ चली आ रही है। तामस प्राणियों के लिए भूत-प्रेत, सात्विकों के लिये देवी-देवता एवं सर्वोच्च अधिकारी के लिए सगुण परमेश्वर एवं साक्षात्कारसम्पन्न अत्यन्त अन्तर्मुख के लिए निर्गुणब्रह्म का उदपेदश है। तत्त्वविद् भी व्यावहारिक दृष्टि से सबका सम्मान करता है। कर्मकाण्ड, देवता आदि की व्यावहारिक सत्ता तत्त्ववित् को ही नहीं अपितु सर्वज्ञ शिरोमणि ईश्वर को भी मान्य है।

(मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ० ५५६-५६३)



द्वन्द्व न्याय और विकास

जगत् परिवर्तनशील है। विकास परिवर्तन का ही एक प्रकार है। इस परिवर्तन को देखने के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। “अतिभौतिकवादी और नैसर्गिकवादी का दृष्टिकोण एक है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी” का दृष्टिकोण और है। लेनिन की व्याख्या से इस पर काफी प्रकाश पड़ता है। “विकास विरोधियों का संघर्ष है। विकास की दो ऐतिहासिक धाराएँ हैं। पहली विकास वृद्धि और हास तथा दुहराने के रूप में और दूसरी विकास विरोधियों के समन्वित तथा परस्पर सम्बन्धित रूप में। पहली धारणा मृत, शुष्क, निःसार है, दूसरी जीवित है। दूसरी धारणा के द्वारा ही हर विद्यमान वस्तु की स्वयं गति समझी जा सकती है और इसकी कल्पना की जा सकती है कि पुराने का ध्वंस होकर नये का आविर्भाव कैसे होता है” (लेनिन-मेटेरियलिज्म एण्ड इम्पीरियो-क्रिटिस्मिज्म)।

विकास की पहली धारणा से हम मौलिक परिवर्तन को नहीं समझ सकते। इस धारणा के अनुसार परिवर्तन को क्रमपरिवर्तन के रूप में देखा जाता है। “परिवर्तन वस्तु की मुख्यतः मूल वस्तु ही है। मूल वस्तु में परिवर्तन की मात्रा अत्यल्प होती है और इन स्वल्प मात्राओं को छोड़कर ही परिवर्तित वस्तु बन जाती है। लेकिन इस प्रकार मौलिक परिवर्तनों को समझा नहीं जा सकता। उदाहरणों से यह सिद्ध है कि प्राकृतिक वस्तुओं की एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था की कुदान होती है। प्रकृति में क्रान्तिकारी

परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। विकास ही प्रकृति का एकमात्र स्थान नियम नहीं है, क्रान्तिकारी परिवर्तन का भी उसमें स्थान है। किसी वस्तु के आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना उसके क्रमशः आविर्भाव या तिरोभाव की कल्पना है। लेकिन सत् (अस्तित्व) का परिवर्तन न केवल एक गुण से दूसरे का परिवर्तन है, बल्कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार एक परिवर्तन घटित होता है, जो एक दृश्यगत घटना को दूसरी के स्थानापन्न करता है और धारा टूट जाती है। जब प्रवाह की धारा टूट जाती है, तब विकास के रास्ते में एक आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है।" हेगेल ने अनेकों दृष्टान्तों से यह प्रमाणित किया है कि "प्रकृति और इतिहास में कितनी ही बार आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। साधारण जन-विदित विकासवाद के सिद्धान्त के पोलेपन को उन्होंने अच्छी तरह दर्शाया है। हेगेल के शब्दों में "क्रमविवर्तन की बुनियादी बात यह है कि जिसका आविर्भाव होता है, वह पहले से ही विद्यमान रहता है, केवल सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी दृश्यगत घटना के तिरोभाव की बात करते हैं, तब हम ऐसी कल्पना करते हैं कि जिसका तिरोभाव होता है, वह तिरोहित हो चुका है और पूर्वगत घटना का जो स्थान होता है, वह पहले से ही विद्यमान है। लेकिन दोनों ही दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु इस प्रकार से हम आविर्भाव या तिरोभाव के सम्पूर्ण ज्ञान को दबा देते हैं। किसी घटना के आविर्भाव या तिरोभाव की व्याख्या क्रमविवर्तन के द्वारा करना शब्दसम्भारमात्र है और इसका अन्तर्हित अर्थ यह है कि जो वस्तु आविर्भाव या तिरोभाव की प्रक्रिया में है, हम ऐसा समझते हैं कि वह आविर्भूत या तिरोहित हो चुकी है।"

हेगेल ने स्वयं इस वस्तु का जो वर्णन दिया है, वह महत्वपूर्ण है। लोम परिवर्तन को उसके क्रम की न्यूनता से अपनी कल्पना के

अन्तर्गत करना चाहते हैं, लेकिन क्रमिक परिवर्तन नाममात्र का परिवर्तन है और गुणात्मक परिवर्तन के विपरीत है। क्रमिकता दो वास्तविकता के संयोग को, चाहे ये दो अवस्थाएँ हों, चाहे दो स्वतन्त्र वस्तु, दया देती है। परिवर्तन समझने के लिए जिनकी आवश्यकता है, उनका अपसरण हो जाता है। संगीत सम्बन्धों में परवर्ती स्वर आरम्भ के मूल स्वर से दूर हट जाता है। फिर ऐसा मालूम होता है कि एका एक वह मूल स्वर लौट आया। यह पिछले स्वर में जोड़ का परिणाम नहीं है, इसका सम्बन्ध दूर के स्वर से मालूम पड़ता है। अब मृत्यु और जन्म धारावाहिक क्रमिक न होकर इसके विघ्न ही हैं और परिणामात्मक से गुणात्मक परिवर्तन की यह एक कुदान है। साधारण कल्पना जब कि किसी उत्थान या निर्वाण का ख्याल करती है, तब इसे वह क्रमिक उत्थान या निर्वाण के रूप में देखती है, परन्तु अस्तित्व में परिवर्तन न केवल एक परिणाम से दूसरे परिणाम का रूपान्तर है, बल्कि गुणात्मक से परिणामात्मक तथा इसके विपरीत रूपान्तरण में है। यह स्वर से भिन्न होने की एक क्रिया है, जो क्रम की धारा तोड़ देती है।

“प्रारम्भिक बात यह है कि प्रकृति को समझने के लिए इसके इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। परिणाम की दृष्टि से यह तो निश्चित ही है कि किसी भी मुहूर्त में विश्व (संसार) वही है, जो वह पहले था और जो कि भविष्य के संसार के निर्माण की क्रिया में है। इसी अनुमान के आधार पर विश्व (संसार) बुद्धिगम्य और व्यवहार योग्य है। गुणात्मक दृष्टि से यह समान रूप में स्वयं सिद्ध है कि किन्हीं दो मुहूर्तों में विश्व (संसार) एक-सा नहीं है। यहाँ तक हालत, डार्विन की क्रान्तिकारी पुस्तक ‘ओरिजन ऑफ मैन’ के प्रकाशित होने के बाद साधारण विकासवाद की कल्पना के अनुरूप ही है। लेकिन यदि इस कल्पना को व्यवहारोपयोगी बनाना है तो इसे गहराई तक ले जाना पड़ेगा। विशेषकर इस जानकारी

की आवश्यकता है कि विश्व (संसार) का निरन्तर रूप-परिवर्तन ऊपरी परिवर्तन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका बुनियादी संघटन भी उसमें सम्मिलित है और वे गतियाँ भी, जिनके योग की सम्पूर्णता में विश्व की क्रियाशीलता है। इस ज्ञान से भी इसको समृद्ध करना चाहिए कि विश्व के असीम परिवर्तन में अपरिवर्तनीयता की मात्रा कितनी है। विज्ञान में पुनरावर्तन के दृष्टान्तों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।”

ये बातें अविचारितरमणीय है, वस्तुतः विकास परिणाम का ही एक स्वरूप है। परिणामवाद में सत्कार्यवाद ही मान्य होता है। क्रमपरिवर्तन या प्राकृतिक वस्तुओं की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में कुदान अर्थात् क्रान्तिकारी परिवर्तन सब परिणाम ही है। बादलों की टक्कर से तत्काल दिग्दिगन्तव्यापी महाविद्युत्प्रकाश का विकास, काष्ठ से अग्नि का क्रमिक विकास, जल का शीतल होना या बर्फ बन जाना, गर्म होना या माप बन जाना, कुछ भी परिणाम से भिन्न नहीं है और न तो मूल वस्तु से अत्यन्त भिन्न किसी वस्तुस्वन्तर का निर्माण ही होता है। अल्पज्ञ, अल्पायु मानवों की दृष्टि में उत्तरोत्तर नवीन वस्तु का ही विकास होता है। परन्तु ईश्वर और दीर्घायु, दीर्घज्ञ, दीर्घदर्शी महर्षियों की दृष्टि में वही भूतग्राम पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन हुआ करता है— ‘भूत्वा भूत्वा स एवायं भूतग्रामः प्रलीयते।’ किसी प्रकार का भी परिवर्तन मर्त्यता, शुष्कता एवं निःसारता का ही द्योतक है। जड़ वस्तु न स्वयं गति है न सार और न अमृत ही है, बल्कि वह क्रियाशील, विकारी एवं ध्वस्त होने वाली वस्तु है। जो भी उत्पन्न होने वाली वस्तु है, उसकी वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश ध्रुव है। अविनश्वर तो सर्वकारण, सर्वाधिष्ठान, अखण्डबोधधात्मक ब्रह्मात्मा है, जिसे मोहवश मार्क्सवादी पुलाने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी और हेगेल जिसे आकस्मिक घटना एवं प्रकृति की कुदान या क्रान्ति कहते हैं, विकासवादी जिसे क्रमिक कहते हैं, दोनों का ही सांख्यीय परिणामवाद में

अन्तर्भाव है। केवल शीघ्रता एवं विलम्बमात्र से परिणाम में भेद नहीं हो जाता और इस अर्थ में कि अत्यन्त अविद्यमान (बाल में तेल जैसी चीज) का कभी-भी आविर्भाव नहीं हो सकता। कोई भी आकस्मिक घटना नहीं होती। परन्तु एक अल्पज्ञ की दृष्टि में कई वस्तुएँ आकस्मिक भी प्रतीत होती हैं। जल के बर्फ बन जाने या भाप बन जाने पर स्थूल रूप से क्रमविच्छेद प्रतीत होने पर भी सूक्ष्म क्रम ज्यों का त्यों विद्यमान रहता ही है। चाहे जन्म और मरण हो चाहे परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन हो चाहे गुणात्मक से परिमाणात्मक परिवर्तन हो, मूल वस्तु का अत्यन्त विच्छेद कभी नहीं होता। माता-पिता का सूक्ष्म शुक्र-शोणित ही एकत्रित होकर क्रमेण विकसित होकर गर्भावस्था, शैशवावस्था, यौवन एवं वार्धक्य अवस्था को प्राप्त होता है। “जायते अस्ति वर्धते” आदि षड्विध भावविकार प्राप्त होते हुए भी मूलतः प्राकृतिक वस्तु ही सब कुछ थी और है। परमार्थसत्य दृष्टि से सब कुछ स्वप्रकाश सत् से अनतिरिक्त ही है। दो अवस्थाएँ या दो स्वतन्त्र अवस्थावली वस्तुएँ मूल वस्तु से भिन्न नहीं होतीं, अतः उनका संयोग भी कोई नयी वस्तु नहीं है। रुई से चाहे कितने भी चमत्कारपूर्ण वस्त्र, मृत्तिका से कितने ही अच्छे सकाम और लोहे से कितने ही अच्छे यन्त्र बन जायँ, फिर भी क्या ये सब वस्तुएँ चाकचिक्चमात्र से मूल वस्तु से भिन्न हो जायँगी? बर्फ बन जाने पर भी क्या जल से कोई बर्फ स्वतन्त्र वस्तु हो जायगी?

मावर्गवादियों एवं हेगेलियन लोगों के वागाडम्बरमात्र से कार्य किसी कारण से भिन्न नहीं हो सकता। संगीत के स्वरों में भी परस्पर भिन्नता और विच्छिन्नता आरोहावरोह से भिन्न होते हुए भी परिणामी के क्रमिक अक्रमिक ही प्रतीत होता है, फिर भी वहाँ सूक्ष्म क्रम रहता ही है। निर्वाण या निर्माण में भी मूल वस्तु से भिन्न का अस्तित्व नहीं होता।

प्रकृति के पदार्थों में एक सी परिणामधारा नहीं होती। वह धारा कभी सूक्ष्म होती है कभी स्थूल। सूक्ष्मधारा के रूप में परिवर्तन ही जन्म कहा जाता है। स्थूलधारा का पुनः सूक्ष्मधारा में परिवर्तन होने में ही ध्वंस या मरण का व्यवहार होने लगता है। इसी को “धारा टूट जाना” कहा जाता है। इसी में मूल वस्तु भिन्न होने की भ्रान्ति होने लगती है। इतिहास का अध्ययन और उससे भी अधिक दर्शन का अध्ययन प्राकृतिक परिणाम समझने के लिए आवश्यक है। किसी प्रकार के परिवर्तन एवं परिवर्तनशील विश्व के मूल में एक अपरिवर्तनशील, स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अखण्डबोध साक्षी का रहना अनिवार्य है, जिसके बिना न क्रमिक परिवर्तन न आकस्मिक परिवर्तन ही सिद्ध होता है। विश्व एवं उसकी मूलभूत, सप्तप्रकृति, विकृति एवं अविकृतिभूत मूलप्रकृति, सब का ही परिवर्तन तत्त्वदर्शियों द्वारा अनुभूत है। परन्तु उससे भी परस्तात् वह स्वयंसिद्ध सत्ता, जिसके बिना सब असत् एवं अप्रकाश निरात्मक हो जाते हैं, महर्षियों द्वारा साक्षात्कृत है।

(सिद्धान्त वर्ष १३, अंक १०, मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ० ६०७-६११)



ज्ञान का मूल

माक्सवादी ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि “ज्ञान सम्बन्धों की चेतना, वस्तु विषय तथा आत्मविषयक जीवधारी मनुष्य के रूप में और बाहरी दुनिया में व्यापक और विशिष्ट तफसीलों के बीच का सम्बन्ध और दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पना के बीच का सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्ति का अनुभव करते हैं। अपना अस्तित्व और बाहरी दुनियाँ का भी अस्तित्व हम दृष्टिभूत वस्तुओं और उसकी कल्पनाओं में ही अपने और बाहरी दुनियाँ के बीच समता और प्रभेद दोनों का एक साथ अनुभव करते हैं। प्राकृतिक वास्तविकता की बाहरी दुनियाँ और मननक्रिया की भीतरी दुनियाँ में विविध प्रकार और परिणाम की समता और प्रभेद का मानस चित्र में चित्रित कर सकना और इन सब को सम अस्तित्व (को-इक्विडिस्टेंस) और अनुवर्तन (सक्सेशन) क्रिया, प्रतिक्रिया परस्पर क्रिया और कार्यकरण निर्भरता के उचित सम्बन्धों में सजाने और व्यवस्थित करने का नाम ही जानना है।

सम्बन्ध का चेतना ही ज्ञान है, विशेषकर वस्तु-जगत् के अस्तित्वों के बीच तथा आत्मानुभूत (दृष्टिगत वस्तु, कल्पनाएँ आदि) अस्तित्वों के बीच का सम्बन्ध तथा इन दोनों जगत्ओं के बीच के सम्बन्ध की चेतना ही ज्ञान है। एक और दृष्टिकोण से व्यावहारिक अर्थ में, विचार वस्तु-जगत् को ठीक-ठीक प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही

ज्ञान है। भौतिकवाद ने प्रकृति को क्रियाशील रूप में माना और विचार को अक्रिय रूप में, जिसका केवलमात्र काम था इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं का ग्रहण करना तथा उस पर मनन करना। यह कान्ट और कान्ट के पश्चात् के आदर्शवादी थे जिन्होंने मननशक्ति की रचनात्मक क्रिया पर जोर दिया, लेकिन इतना अधिक जोर दिया कि उसको बेहिसाब बढ़ा-चढ़ा दिया।

अंग्रेजी और फ्रांसीसी भौतिकवाद ने इस मूल स्वीकृति से किया कि विचार की वस्तु (विचार का कर्म) का अस्तित्व विचार कर्ता के अस्तित्व से पहले है और विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन वह इससे आगे न बढ़ सके। हॉब्स ने इस मत को इन शब्दों में रखा है। 'मनुष्य के विचार के सम्बन्ध में, अलग-अलग रूप में, इनमें से प्रत्येक वस्तु, हमारे शरीर और मन के बाहर किसी वस्तु के किसी गुण का प्रतीक या प्रतिनिधि है, जो वस्तु की मनुष्य की इन्द्रियों पर अपनी क्रिया की विचित्रता से विविध दृश्यों की सृष्टि करती है। (लेबायन)। यह प्रश्न भौतिकवादियों के सामने इस रूप में था कि इस ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियग्राह्य रूपों के मूल उद्गमस्थान से होकर एक विशेष शक्ति प्रज्ञा द्वारा होती है, लेकिन यह विशेषशक्ति क्या है, यही एक झगड़े का विषय हो गया। आदर्शवादी इस मत का पोषण करते थे कि यह "प्रज्ञा" धर्मपण्डितों की आत्मा ही है जो एक अतिप्राकृतिक शक्ति है, जो इन्द्रियानुभूत मायावी रूपों को परम और अनन्त सत्य में परिणत करती है। भौतिकवादी इस मत के लिए झगड़ते रहे कि यह "प्रज्ञा" कितनी ही रहस्यमयी हो, फिर भी यह प्राकृतिक ही है।

प्रसिद्ध लेखक आनातोल् फ्रांस ने परिस्थिति को इस तरह चित्रित किया है "मठ की दीवार के नीचे जहाँ छोटे बच्चे अपना खेल खेल रहे थे, हमारे साधुमित्र वहाँ एक और खेल खेल रहे थे जो उतना ही व्यर्थ था, लेकिन मैं वहाँ जा मिला क्योंकि समय बिताना ही चाहिए। हमारा

खेल शब्दों का खेल था जो हमारे गूढ़ मगज लेकिन सूक्ष्म दिमाग के लिए सुखकर था, एक विचारशैली को दूसरी विचारशैली के विरुद्ध उखाड़नेवाला था और उसने सारे ईसाई समाज में हलचल मचा दी। हम दो विरोधी दलों में बँट गये। एक दल का कहना था कि सेवा (फल) के पहले सेव जाति थी, केलों के पहले केला जाति थी, भ्रष्टचरित्र और लालची साधुओं के पहले साधु जाति, लालच तथा भ्रष्टचरित्रता थी ही। पीठ पर लात जमाने के लिए लात और पीठ से पहले पीठ जमानेवाली लात सदा से ईश्वर के अन्तः स्थल में विद्यमान था।" और दूसरे दल ने उत्तर दिया कि "नहीं, सेवा से ही सेव जाति की धारणा होती है, केलों से ही केला जाति का अस्तित्व है। साधुओं से ही साधु जाति, लालच तथा भ्रष्ट चरित्रता की उत्पत्ति है। लात जमाने और खाने के बाद ही पीठ पर लात का कोई अर्थ होता है। बस खिलाड़ी गरम हो गये और घूँसा चलने लगा। मैं दूसरे दल का पृष्ठ-पोषक था; क्योंकि उसका मत मेरे लिये बुद्धिग्राह्य था और सोवासों की बैठक ने इस मत को आग्राह्य बनाया (रिवोल्ट ऑफ ऐंजिल्स)।"

"प्रज्ञावादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्ञान का चिह्न है इसके प्रतिपादों की व्यापकता और अवश्यम्भाविता। व्यापकता का अर्थ है कि सिद्धान्त का प्रयोग बिना व्यतिक्रम के हमारे सब अनुभवों पर हो सके और अवश्यम्भाविता का अर्थ है कि सब मनुष्यों की बुद्धि ऐसे सत्य को ग्रहण करने के लिए उनको बाध्य करे। लेकिन प्रज्ञावादी को कार्यकारण-सम्बन्धों का एक सूत्रबद्ध सिलसिला कहाँ से मिल जाता है, जो उनके अनुसार वस्तुओं के भ्रमपूर्ण चित्रों के मूल में हैं? इन विचारों के स्पष्ट और स्वयं सिद्ध तथा तर्कसंगत होने से ही ऐसा क्यों अनुमान किया जाय कि ये बाहरी दुनियाँ की सच्ची तस्वीरें हैं? लेनिन के शब्दों में इस रहस्य का इस प्रकार उद्घाटन हो जाता है। करोड़ों बार दुहराने से मनुष्य के अभ्यास

और अनुभव चेतना में तर्क संकेत का रूप धारण कर लेते हैं। तथाकथित तर्कसंगत विचार के सार्वभौमरूपों का ऐतिहासिक आधार नहीं है।”

वस्तुतः यह परिभाषा अन्योन्याश्रय-दोष से युक्त है। ज्ञान का निश्चय होने पर ही ज्ञान-सम्बन्ध का निश्चय होगा और ज्ञान-सम्बन्ध निश्चय होने से ज्ञान का निश्चय होगा। साथ ही ज्ञान और चेतना दोनों एक ही वस्तु हैं; फिर “ज्ञान-सम्बन्धों की चेतना ज्ञान है;” इसका यह अर्थ हुआ कि ज्ञान-सम्बन्धों का ज्ञान ही ज्ञान है। इस तरह आत्माश्रय दोष भी है। जबतक ज्ञान नहीं विदित है तब तक ज्ञानसम्बन्धों का भी ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार “वस्तुविषयक, आत्मविषयक तथा जीवधारी मनुष्य के रूप और बाहरी दुनियाँ के चेतना को ज्ञान कहते हैं, यह परिभाषा भी अपूर्ण है। क्योंकि ज्ञान और चेतना दोनों एक ही वस्तु हैं। फिर ज्ञान के लक्षण की जिज्ञासा अमुक सम्बन्ध की चेतना ज्ञान है,” इतना कह देने से वह कैसे पूर्ण होगी? इसके अतिरिक्त सम्बन्ध-चेतना यदि ज्ञान है तो प्रश्न होगा कि वस्तु चेतना ज्ञान है या नहीं? सम्बन्ध चेतना ही वस्तु की चेतना है, यह कहना भी असंगत है; क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धी से भिन्न ही होता है। अतएव सम्बन्ध-सम्बन्धी का आधाराधेयभाव होता है। जैसे घट-ज्ञान पट-ज्ञान का लक्षण नहीं होता, उसी तरह वस्तु सम्बन्ध-ज्ञान वस्तु-ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार बाहरी दुनियाँ के व्यापक और विशिष्ट तफसीलों के बीच का सम्बन्ध भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध द्विष्ट होता है; अर्थात् दो सम्बन्धियों में रहता है, जैसे संयोग। जिन दो वस्तुओं का संयोग होता है, उन दोनों में ही सम्बन्ध रहता है। ज्ञान आत्मा में ही रहता है।

इसके अतिरिक्त सम्बन्ध स्वयं ही ज्ञेय पदार्थ है, उसका भी ज्ञान होता है, फिर वह स्वयं ही ज्ञान कैसे हो जायगा? इसी तरह “दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पना के बीच का सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा

हम अस्तित्व का अनुभव करते हैं वह ज्ञान है", यह भी कहना गलत है। क्योंकि अनुभव भी तो ज्ञान ही है। चेतना, अनुभव, ज्ञान आदि पर्यायवाची शब्द हैं। उसी वस्तु का लक्षण करने में उसी का उपयोग होना अयुक्त है। "अपने और बाहरी दुनियाँ के बीच समता और प्रभेद दोनों का जिन दृष्टिभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओं में अनुभव करते हैं वह ज्ञान है", यह भी कहना अपर्याप्त है; क्योंकि दृष्टि और उनकी कल्पनाओं का भी अन्तर्भाव ज्ञान में ही है। अतः जब तक ज्ञान या अनुभव या चेतना का स्पष्ट लक्षण न हो तब तक इन वाक्याडम्बरों से काम नहीं चल सकता।

इसी तरह "मनन क्रिया की भीतरी दुनियाँ में विचित्र प्रकार एवं परिमाण की समता और प्रभेद का मानचित्र में चित्रित कर सकना और इन सबको सम अस्तित्व और अनुवर्तनक्रिया, प्रतिक्रिया, परस्परक्रिया और कार्यकारण-निर्भरता के उचित सम्बन्धों में सजाने तथा व्यवस्थित करने का नाम ही ज्ञान है", यह कथन भी शब्दाडम्बर को छोड़कर कुछ नहीं है। वस्तुतः कल्पना, मनन-क्रिया, चित्रण करना, सजाना आदि क्रिया कर्तृतन्त्र ही होती है, परन्तु ज्ञान तो कृति और इच्छा से भी पहले होता है। इसीलिए "जानाति इच्छति, अथ करोति" का व्यवहार होता है। अर्थात् कोई भी प्राणी जानता है, फिर इच्छा करता है, पुनश्च कर्म करता है। प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसी ही क्रिया करता है।

कोई भी क्रिया चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, कर्ता के परतन्त्र ही होता है। किन्तु ज्ञान कर्ता की इच्छा पर निर्भर नहीं होता; प्रमाण की उपस्थिति में कर्ता की इच्छा न होने पर भी ज्ञान होता है। दुर्गन्ध-ज्ञान को हम नहीं चाहते तब भी निर्दोष घ्राण की उपस्थिति में दुर्गन्ध रहने पर ज्ञान अनिवार्य ही है, यहाँ कर्ता की स्वतन्त्रता नहीं होती है। मानस परिणाम होने पर भी मनन-क्रिया, भावना एवं ज्ञान में यही भेद रहता है।

बाहरी दुनियाँ की आवश्यकता और भीतरी दुनियाँ की समता तथा भिन्नता का मन में चित्रण करना ज्ञाता या प्रमाता का काम हो सकता है। इन सबका सम अस्तित्व और अनुवर्तनक्रिया, प्रतिक्रिया और कार्य-करण के उचित सम्बन्ध में सजाने और व्यवस्थित करने के आदि का काम भी प्रमाता का ही है, ज्ञान का नहीं। भौतिकवादियों के यहाँ जीवित मनुष्य ही प्रमाता हो सकता है। देह से भिन्न प्रमाता कोई आत्मा मार्क्सवादियों को मान्य नहीं है। ज्ञान स्वयं प्रकाश है। व्यवस्थापन करना, सजाना आदि ज्ञान का काम नहीं होता। प्रमाण भी अज्ञात-ज्ञापक होता है, अकृतकारक नहीं।

इसी तरह “सम्बन्ध की चेतना ही ज्ञान है या वस्तु जगत् के अस्तित्वों के बीच का तथा आत्मानुभूत अस्तित्वों के बीच का सम्बन्ध एवं इन दोनों जगतों के बीच के सम्बन्धों के बीच की चेतना का नाम भी ज्ञान है”, यह भी कथन व्यर्थ है। क्योंकि वस्तुतः अस्तित्व का स्वतः सम्बन्ध नहीं होता। अस्तित्ववाली वस्तुओं का सम्बन्ध होता है और वे सम्बन्ध ज्ञेय एवं गुण विशेष होते हैं, चेतना या ज्ञान नहीं। इसी प्रकार आत्मा मार्क्सवाद में देह-भिन्न है ही नहीं। अनुभव-ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती, फिर आत्मानुभूत अस्तित्वों का सम्बन्ध भी स्वयं अनुभव या ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। विचार वस्तु जगत् को ठीक-ठीक प्रतिफलित, प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है। यहाँ भी वस्तुतः वस्तु का अन्तःकरण में प्रतिफलन या प्रतिबिम्बन ही विचार या निश्चय कहलाता है। यहाँ भी निश्चय, ज्ञान, विचारादि समानार्थक है। यहाँ भी अन्योन्याश्रय आदि दोष उपस्थित होते हैं।

भारतीय नैयायिकों की दृष्टि से सर्व व्यवहारहेतु आत्मगुण को ही ज्ञान माना जाता है। सुस्पष्ट है कि संसार के सभी व्यवहार तथा व्यापार ज्ञानमूलक हैं। संसार में अकाम की कोई भी क्रिया नहीं होती और सभी काम संकल्पमूलक ही होते हैं। वेदान्त की दृष्टि से काम, संकल्प, विचिकित्सा,

श्रद्धा, अश्रद्धा, ही, घृणी, भय—ये सभी मन के धर्म हैं। नैयायिकों तथा वैशेषिकों के अनुसार आत्ममनःसंयोग से उत्पन्न होने वाले ये सब अणु के ही गुण हैं।

“ज्ञान वस्तुगत सत्यता की यथासम्भव निर्दुष्ट प्रतिच्छायाओं के रूप में प्रतिष्ठापित एवं परीक्षित मान्यताओं, दृष्टियों एवं प्रस्तावनाओं का योग है। यह निश्चित रूप से एक सामाजिक उपज है, जिसकी जड़ें सामाजिक व्यवहारों में हैं; जिन्हें व्यवहारिक आशाओं एवं अपेक्षाओं की पूर्ति द्वारा परीक्षित एवं संशोधित कर लिया जाता है। सभी ज्ञानों का प्रारम्भ उन इन्द्रियानुभूतियों में निहित है, जिनकी विश्वसनीयता मनुष्य के व्यवहारों में सिद्ध है। ज्ञान कभी भी सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं हो सकता, परन्तु इसका सर्वदा विस्तृत एवं आलोचित होते रहना आवश्यक है।”

वस्तुतः नित्य ज्ञान ही सब का मूल है, उसका मूल कोई नहीं। अनित्य ज्ञान विषयों एवं इन्द्रियों के सन्निकर्ष से अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। वह भी ज्ञान तभी बनता है, जब उसमें नित्यबोध का प्रतिबिम्ब पड़ता है। सामान्यतया क्रियाएँ ज्ञान के प्रतिफल भले ही हों, परन्तु ज्ञान क्रियाओं का फल नहीं हो सकता। वायु, जल एवं अग्नि में अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, उन्हें अन्तर्यामी चेतन से प्रेरित तो कहा जा सकता है, परन्तु उन क्रियाओं के द्वारा उनमें कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। “ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्” इस व्युत्पत्ति से ज्ञानशब्द का अन्तःकरण वृत्ति अर्थ है। परन्तु “ज्ञप्तिर्ज्ञानम्” इस व्युत्पत्ति से स्फुरण मात्र ही ज्ञान-पदार्थ है। ज्ञान में क्रिया और स्फुरण दो अंश हैं। जानाति के “तिङ्” अर्थ चिदाभास है, धात्वर्थ क्रिया है। दोनों को मिलाकर ही “जानाति” का व्यवहार होता है। चैतन्य प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि की घटादिवृत्ति चैतन्य से व्याप्त होती है; इसीलिए बुद्धि वृत्ति में ही ज्ञान की भ्रान्ति होती है। आरोपित सर्व दृश्य का भासक होने से ब्रह्म में ही ज्ञानता मुख्य है।

प्रत्ययकारिता बुद्धि के साक्षी में अध्यस्त होने से साक्षी में भी भासकत्व की कल्पना होती है, वस्तुतः है वह भानस्वरूप ही। बुद्धिकर्तृक सभी प्रत्यय चैतन्यस्वचित ही उत्पन्न होते हैं, इसी आधार पर "ज्ञानं क्रियते" (ज्ञान किया जाता है) यह व्यवहार होता है। जैसे बुद्धि के पहले अनवच्छिन्नबोध कूटस्थ है, वैसे ही बुद्धि उत्पन्न होने पर भी वह बोध निष्क्रिय ही रहता है, इसीलिए श्रुतियाँ द्रष्टा की स्वरूपभूता दृष्टि का सर्वथा अविपरिलोप ही बतलाती है—

न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/२३)

आलोचन-संकल्प अभिमानादिकरण व्यापार-बुद्धि में उपसंक्रान्त होकर बुद्धि के अध्यवसायरूप व्यवहार के साथ उसी तरह एक व्यापारवान् हो जाते हैं जैसे अपनी सेना के साथ ग्रामाध्यक्षादि की सेना सर्वाध्यक्ष की ही हो जाती है।

वेदान्त मतानुसार सूक्ष्म पंचभूतों के समष्टि सात्विक अंशों से मन या अन्तःकरण उत्पन्न होता है। व्यष्टि सात्विक अंशों से श्रोत्रादि पंचज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और चित्त, अहंकार, बुद्धि सब उसी मन या अन्तःकरण की ही वृत्तियाँ हैं, जैसे लोहपिण्ड में स्वतः दाहकत्व न होने पर भी बहि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होने से लोहपिण्ड में दाहकत्व होता है, उसी तरह भौतिक अन्तःकरण यद्यपि जड़ है, उसमें प्रकाशकत्व नहीं है, फिर भी स्वप्रकाश आत्मचैतन्य के तादात्म्याध्यास सम्बन्ध से उसमें भी चैतन्य का उपलम्भ होने लगता है। स्वप्रकाश अखण्डबोध आत्मा ही मुख्य-ज्ञान है, उसी के प्रकाश से मन अन्तःकरण आदि में भी प्रकाश व्यक्त होता है। अनन्त आकाशस्वरूप बोधात्मक ब्रह्म ही उपाधिभेद से विभिन्न ज्ञानों के रूप में भासित होता है, जैसे घटादि उपाधि-भेद प्रतीत होता है। जहाँ विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य के साथ अभेद होता है, वहाँ अपरोक्ष

ज्ञान होता है। जहाँ प्रमातृचैतन्य से विषयचैतन्य का भेद विद्यमान रहता है, वहाँ प्रमाण के बल से केवल परोक्ष-ज्ञान होता है। इसलिए अनुव्यवसाय को विशिष्ट विषय बनाने के लिए सामान्य विशेष विषयक ही इन्द्रियों को मानना चाहिए। “योगभाष्यकार” का भी यही कहना है—

न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम् । कथमनालोचितः, विषयविशेष
इन्द्रियेण मनसानुव्यवसीयेत ।
—(योगभाष्य ३/४७)

कुछ लोग कहते हैं कि आलोचन-ज्ञान सामान्यज्ञान-विषय को ग्रहण करता है; किन्तु मन विशिष्ट विषय को ग्रहण करता है, परन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः इन्द्रियजन्य आलोचन अविविक्त सामान्य विशेष को ग्रहण करता है और अनुव्यवसाय ज्ञान विविक्त सामान्य विशेष को ही ग्रहण करता है इसीलिए “योगवार्तिक” में कहा गया है—

निर्विकल्पकबोधेऽपि द्वात्मकस्यापि वस्तुतः ।

ग्रहणं लक्षणाख्येयं जाता शुद्धं तु गृह्यते ॥

निर्विकल्पकज्ञान सामान्यमात्र को ही नहीं ग्रहण करता, क्योंकि उसमें विशेष का भी प्रतिभास होता है। इसी तरह विशेषमात्र का ही ग्रहण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें सामान्याकार का भी भान होता है, किन्तु सामान्यविशेष-दोनों ही ग्रहण करता है, परन्तु ‘यह सामान्य है, यह विशेष’ इस तरह विवेचन पूर्वक ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि कालान्तर का अनुसंधान नहीं होता। जैसे ग्रामाध्यक्ष कुटुम्बियों से कर भूपति को कर समर्पण करता है, विषयाध्यक्ष सर्वाध्यक्ष को, सर्वाध्यक्ष करके मन को अर्पण करती है, इसी तरह बाह्येन्द्रिय विषयों को आलोचन करता है, अहंकार उसका अभिमान करके अर्थात् संवेदन और स्मृतिशेषों के समूह को आत्मीयत्वेन ग्रहण करके अर्थात् बाह्येन्द्रियोपलब्ध क्षणिक

संवेदन एवं स्मृतियों को संग्रहित करके सर्वाध्यक्षभूता बुद्धि को समर्पण करता है, इस तरह सभी करण बुद्धि में अर्थ समर्पण करके पुरुष को अर्थ-प्रकाश करते हैं।

विकास

“ज्ञान, जब हम वस्तुओं के साथ सक्रिय सम्बन्धों में आते हैं, तब प्राप्त होता है और प्रतीति से निर्णय की ओर विकसित होता है। ज्ञान का विकास प्रत्ययात्मक से उपपत्यात्मक (युक्तिपूर्ण सिद्ध) तक वस्तुओं के रूप-रंग आदि के केवल बहिरंग (ऊपरी-ऊपरी) निर्णयों से उनके आवश्यक गुण-धर्मों, पारस्परिक संयोगों तथा नियमों के विषय में तर्कपूर्ण निष्कर्षों तक के मार्ग पर होता है। इस प्रकार हम इस बाह्य (वस्तुमय) संसार का उत्तरोत्तर अधिक पूर्ण एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं। प्रत्येक अवस्था में हमारा ज्ञान सीमित है। पर वह सीमाओं को जीतता हुआ प्रगति कर रहा है, करता जा रहा है।

बुद्धि वृत्तिरूप ज्ञानों का विकास ही नहीं, किन्तु हास भी होता है। कोई प्राणी ज्ञान-साधनों से ज्ञानार्जन, ज्ञान-विकास करता है, किन्तु प्रमाद से वह उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। आज के पुरातत्व वेत्ता तो यह भी कहते हैं— “प्रथम ज्ञान अत्यन्त विकसित था, परन्तु अब वह संकुचित हो गया है।” पर वेदों, पुराणों, भारतादि ग्रन्थों को पढ़ने से मालूम होगा कि आज पहले की अपेक्षा सभी क्षेत्रों में ज्ञान का संकोच हो गया है। नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा तो चित् नित्य स्वप्रकाश ही है। उसके विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

(मार्क्सवाद और रामराज्य में मार्क्स और ज्ञान अध्याय से
संकलित, पृ० ६११-६८२)



भारत में जनतन्त्र

इस समय प्रचलित शासन-पद्धतियों में सबसे अच्छी “जनतंत्र-शासनपद्धति” ही मानी जाती है। इसीलिए अधिनायकवादी लोग भी जनस्वीकृति के लिए जनमत का संग्रह करते हैं। यद्यपि उनके यहाँ शासनारूढ़ पार्टियों के विरुद्ध कोई व्यक्ति या पार्टी चुनाव लड़नेवाली नहीं होती और न कोई उनके विरुद्ध लेख-भाषणादि ही प्रकाशित करा सकता है। तब भी वोट डालने का काम वहाँ भी होता है। “राजतंत्र” का फिर से पनपना निकट भविष्य में सम्भव नहीं। “अधिनायकवाद” (डिक्टैटरशिप) से लोगों को घृणा है। जनतन्त्र में शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित होती है। जनता के लिए, जनता द्वारा जनता का शासन ही “जनतंत्र-शासन” कहलाता है। किन्तु वह तभी सफल होता है, जब जनता सावधान, सतर्क एवं जागरूक रहे। तभी तो जान लॉक ने कहा था— “स्वतंत्रता बहुत अच्छी वस्तु है, पर जब उसके साथ उसकी सगी बहन सतर्कता रहे तभी। उसके बिना तो आत्महत्या की स्वतंत्रता से अधिक उसका कोई मूल्य नहीं।” साथ ही उस जनतंत्र के लिए यह भी आवश्यक है कि चुनाव इतना सस्ता हो कि जिससे राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक उसे लड़ने में सक्षम हो। अर्थात् जनता के पास इतनी सम्पत्ति हो कि वह आसानी से चुनाव की जमानत दाखिल कर सके। कुछ पोस्टर, नोटिस, जीप, लाउडस्पीकर आदि का प्रबन्ध कर सके।

आज भारत में जनतंत्र-शासन घोषित है। कहा जाता है कि इस जनतंत्र-शासन में प्रत्येक नागरिक को एम०पी० या राष्ट्रपति होने का अधिकार है। जनता नापसन्द सरकार बदल कर मनचाही सरकार बना सकती है। सबको अखबार निकालने, सरकार की समालोचना करने का अधिकार है। परन्तु दुर्भाग्यवश वस्तु स्थिति यह है कि ५० करोड़ मनुष्यों में से मुश्किल ५० लाख ही ऐसे निकलेंगे जो जमानत दाखिल करने की स्थिति में हों, बाकी लोगों की हालत ठीक इसके विपरीत ही है।

आज तन ढाँकने को वस्त्र, पेट भरने को रोटी और बीमार बच्चे के लिए इलाज की सुविधा सबको सुलभ नहीं, फिर वास्तविक अर्थ में जनतंत्र कहाँ? जनता में चुनाव के कारण ही प्रान्तों, नगरों, गाँवों में, घर-घर फूट एवं नौकरी आदि की सुविधाओं के प्रलोभनों से ही अधिकांश जनता अपने वोटों का प्रयोग करती है। इसीलिए थोड़े-थोड़े पैसों के प्रलोभनों का आसानी से जनता पर असर पड़ जाता है। फलस्वरूप जनतंत्र के नाम पर भ्रष्टाचार, अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार का विस्तार हो रहा है।

बिहार के एक विशिष्ट मजिस्ट्रेट ने बताया कि इस समय के चुनाव में इतना बड़ा अपराध हुआ है कि उसका दण्ड हमारे दण्ड विधान में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। उन्होंने कहा कि “एक जगह पचीस लठैत आये” और उन्होंने कहा कि “हमारी पंचायत ने तय कर लिया है कि सब बैलट-पेपर दे दो, हम सब वोट डलवा लेंगे।” लाचार होकर अधिकारियों को सब दे देना पड़ा और उन लोगों ने “अभीष्ट पार्टी को वोट डलवा दिया।” एक वकील ने बताया कि “एक जगह एक प्रसिद्ध गुण्डा रिवाल्वर लेकर खड़ा हो गया और लोगों से उसने अपने अभीष्ट पार्टी के चिह्न पर मोहर लगवा ली। किन्हीं एजेण्टों को उसके सामने कुछ बोलने का कार्यवाही करने की हिम्मत नहीं पड़ी। एक स्त्री ने चार सौ वोट अकेले डाले।

गुण्डों के शय से किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। एक जगह एक स्त्री ने रखे हुए २० बैलट पेपर उठा लिये। अफसर को उसे पकड़ने की हिम्मत न पड़ी, क्योंकि उसने देखा तो पीछे घातक शस्त्र लिये लोग खड़े थे।

एक गाँव के निर्वाचन-स्थल में लगभग १५ लोग आये और बोले कि "यहाँ का फैसला है कि हम लोगों को आठ सौ बैलट-पेपर दे दो, नहीं तो हम लोग तुम लोगों को खत्म कर देंगे।" और उन्होंने २-२१ बजे ही मतपत्र-पेटिका बन्द करा दी। दूसरे पक्ष के लोग आ गये, उन लोगों ने आग्रह किया कि हम लोग वोट डालेंगे, तो मारकाट की नौबत आयी।

कहीं एक जगह लोगों ने निर्णय कर लिया कि अमुक पार्टी को ही वोट देंगे। एक व्यक्ति को दूसरे को वोट देते देख लिया तो उसकी खूब पिटाई हुई। इससे आतंक बढ़ गया। लोग वोट डालने आये ही नहीं, दो-चार लोगों ने सभी वोट डाल दिये। अनेक स्थलों में आतंक से डरकर लोग वोट डालने ही नहीं गये, फिर भी दो चार लोगों ने सब वोट डाल दिये। कहीं पुलिस की ट्रक आ गयी तो वहाँ ऐसे काण्ड नहीं हो सके। परन्तु बिहार में इतना अपर्याप्त पुलिस का प्रबन्ध था कि उसका कोई असर नहीं पड़ सका।

पटना के विभिन्न बूथों पर एक-एक व्यक्ति ने कहीं १७, कहीं १२ तो कहीं ११ बार वोट डाले। वोट डालने के पहले जो निशान स्थायी का लगाया जाता है, उसे २ मिनट में ही मिटा दिया जाता है। जनसंघ एवं कम्युनिस्टों में इस प्रकार के बोगस वोट डालवाने की होड़ लग रही थी। कहा जाता है कि विभिन्न स्थानों में इस प्रकार के विशेषतः मुस्लिम औरतों के बुर्को द्वारा अधिकाधिक बोगस वोट खुलकर डलवाये गये।

जनसंधियों ने वोट के लिए विभिन्न नारों एवं पोस्टरों से काम किया, कहीं तो “हर हाथ को काम, हर खेत को पानी, घर-घर को दीपक, जनसंघ की निशानी” ये नारे थे तो कहीं-कहीं “गोहत्या बन्द कराना चाहो तो जनसंघ को वोट दो।” कहीं “अध्यात्म और धर्म की रक्षा चाहो तो जनसंघ को अपना वोट दो।” तो कहीं “जनसंघ को वोट दो, नहीं तो कम्युनिस्ट जीत जाएगा।” कहीं हिन्दुत्व को बचाओ, जनसंघ को वोट दो।”

इस नारों के प्रभाव से कितने ही आस्तिक, कितने ही साधु, महात्मा, कितने ही पंडित भी इनकी कूटनीति के शिकार बन गये। पर उन्हें यह पता ही नहीं था कि इनका धर्म, इनका अध्यात्म क्या है। ये किसी धर्मग्रन्थ या शास्त्र का प्रामाण्य नहीं मानते। इनके धर्म में सबको रोटी-बेटी एक होती है। इनका धर्म इनकी निजी कल्पना मात्र है। स्वतन्त्र पार्टी भी कभी-कभी धर्म का नाम लेती है। पर उनके महान् नेता राजगोपालाचारी ने ब्राह्मण होते हुए भी अपनी कन्या गाँधी जी के लड़के को व्याही, जो वैश्य थे।

कांग्रेसी लोग चमार-भंगियों को धर्म की कसम दिलाकर वोट का सौदा तय करते रहे हैं, यद्यपि कांग्रेस में किसी शास्त्र या धर्म का कोई स्थान नहीं। कांग्रेसी शासन में डालर कमाने के लिए बराबर हजारों लाखों गायों, बैलों की हत्या की जाती है, फिर भी जनता ने “बैल की जोड़ी” के नाम पर उन्हें भी वोट दिया। ऐसे ही जनसंघी शास्त्र और धर्म के विरुद्ध “धर्मयुद्ध” छोड़ने की बात करते हैं। हिन्दुत्व के नाम पर जनता ने उन्हें भी वोट दिया।

कांग्रेसी, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघी सभी जाति-पाँत के घोर विरोधी, खान-पान, रोटी-बेटी एक करके जाति-पाँति मिटाने के प्रयत्न में ही तल्लीन रहते हैं। पर चुनाव के समय सब पर जाति-पाँत का भूत

हावी हो जाता है। कहा जाता है कि ४० प्रतिशत बोगस वोट गत
 यथावधि चुनाव में पड़े तो ९० प्रतिशत जात-पाँत के नाम पर पड़े।
 सिर-फुड़बल भी खूब हुई। कहीं कांग्रेसी पिटे, कहीं जनसंघी पिटे। बी०
 के० डी० भी इन कामों में पीछे नहीं रहा। “जाट की बेटी जाट की रोटी
 जाट को - जाट का वोट जाट को” इस प्रकार जात-पाँत के नारे खूब
 चले। आनन्दमार्गियों की भी एक “पोटेस्ट-पार्टी” बन गयी। आनन्दमार्ग
 वेदशास्त्र तथा वैदिक धर्म, जाति-पाँति चोटी या जनेऊ कटाकर ईयाइयत
 जैसे मत का प्रचारक एक सम्प्रदाय है। सुना गया है कि उसको ईसाई
 राष्ट्रों से बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि ईयाइयत फैलाने में सबसे बड़ी
 बाधा हिन्दूशास्त्र एवं जाति-पाँति ही है। उनके भी झण्डे, पोस्टर, बिल्ले
 खूब बँटे।

प्रायः प्रसिद्ध सभी पार्टियों को विदेशी एवं देशी पूँजीपतियों से
 खूब धन की सहायता मिली। विभिन्न कम्पनियाँ एवं पूँजीपति खुलकर
 पैसा देते हैं और अपने लाभ का सौदा करते हैं। असल में चुनाव एक
 तरह से पूँजीपतियों का ही खेल हो गया है। तभी तो एक-एक एम०एल०ए०
 के चुनाव क्षेत्र में उड़-डेढ़ सौ जीपों एवं ट्रैक्टरों का दौरा हो रहा था।
 हजारों हजार कार्यकर्ता एक-एक उम्मीदवार की तरफ से दौड़ रहे थे।
 पूँजीपति लोग करोड़ों खर्च कर एम०एल०ए०, एम०पी० लोगों को खरीद
 लेते हैं। अगर अरबों खर्च करने पर एक प्रान्त की सरकार ही हाथ में
 आ जाय तो उसे उसमें घाटा नहीं समझा जाता। समाचार-पत्रों पर एक
 दृष्टि डालने और “नीर-क्षीर-विवेक” न्याय से विचार करने पर वास्तविकता
 सामने आ जाती है।

ऐसी अवस्थाओं को देखकर बहुत से सज्जन आस्तिक निर्वाचन
 एवं राजनीति से ही दूर रहने की बात करते हैं और गुण्डों ने राजनीति
 को अपनी बपौती मिलाकियत समझ लिया है। परन्तु यदि सत्पुरुष आस्तिक,

सद्व्यवस्था राजनीति में न आएँगे तो भ्रष्टाचार उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ता ही जायगा। फिर सुख-शान्ति एवं न्याय की आशा दुराशा ही होगी। अन्याय, भ्रष्टाचार का प्रभाव राष्ट्र के साधु-असाधु सभी लोगों पर पड़ सकता है। कुशासन का ही प्रभाव है कि आज हर एक के लिए झूठ बोलना, बेईमानी करना, धूस देना एक सामान्य सी बात हो गयी है। आज लोग इसे पाप ही नहीं समझ रहे हैं। बड़े-बड़े उपदेशक एवं धर्म प्राण लोग भी इन दोषों में लिप्त पाये जाते हैं।

भारत के राजा-रईस, जमींदार, जागीरदार समाप्त कर दिये गये। सेठ साहूकार भी अधिकाधिक समाप्त प्राय हैं। मुट्ठीभर कम्पनियाँ एवं उनके मालिक बचे हुए हैं। वे भी इसलिए कि सरकार एवं सरकारी विशिष्ट लोगों को इन लोगों ने अपने हाथों में रखा है। तभी तो यद्यपि समाजवाद के नाम पर या गरीबों-मजदूरों, किसानों की गरीबी, भुखमरी मिटाने के नाम पर राजाओं, नवाबों, जमींदारों, जागीरदारों, को समाप्त कर दिया गया; परन्तु बड़े पूँजीपतियों एवं उनकी कम्पनियाँ अभी भी बची हुई हैं, यद्यपि समाजवाद के अनुसार सभी उत्पादन-साधनों का राष्ट्रीकरण होना अनिवार्य माना जाता है।

जो भी धनवान बाकी बचे हैं, वे शक्तिशाली पार्टियों के निर्वाचन की सहायता के नाम पर खूब धन देकर अपनी रक्षा को गारण्टी प्राप्त करना चाहते हैं। आज शक्ति एवं धन का ही महत्व है। सिद्धान्त, धर्म, ईश्वर, शास्त्र का कोई मूल्य नहीं है। धर्मप्राण कहे जानेवाले मन्दिर, तिलक, पूजा-पाठ में लगे रहने वाले लोग भी शक्ति की ही ओर दृष्टि रखते हैं। परन्तु उनका भीतर से कोई ईमान या धर्म नहीं है। वे कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघ, किसी की भी पूजा करने को तैयार हैं। चाहे वे धर्मध्वंसक हों, गोघातक हों, जाति-पाँति के नाशक हों, कुछ भी इनमें उनको कुछ भी प्रयोजन नहीं। रामराज्य परिषद् जो कि धर्म, धन,

जाति, संस्कृति एवं वैध ब्रपौती मिलकियत की रक्षा के लिए ही काम कर रही है, उसकी गणना इनकी दृष्टि में कुछ भी नहीं है।

ऐसी स्थिति में नितान्त आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय। निर्भीक विद्वान् एवं सन्त सामने आवें तथा इस तमस्तोम का भेदन (पर्दाफाश) कर शुद्ध दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक तत्त्वज्ञान प्रकट कर राष्ट्र को जागरुक एवं सतर्क करें।

यद्यपि यह काम बहुत लम्बे समय का और कष्टसाध्य है, क्योंकि अन्धकार, भ्रान्ति बहुत व्यापक है, तथापि दुःसाध्य नहीं है। साय ही सिवा इसके दूसरा मार्ग भी नहीं है। शास्त्र, धर्म एवं संस्कृति की रक्षा का यही एकमात्र मार्ग है। धर्म-अधर्म नीति-अनीति का विवेक-विज्ञान उनमौलित हो, ज्ञान-विज्ञान सिद्धान्त, दर्शन बहुत अच्छा होने पर भी जब तक तदनुरूप आचार नहीं होता तब तक भक्ति, ज्ञाननिष्ठा भी सुसम्पन्न नहीं हो सकती। पहले राजनीति का क्षेत्र सीमित रहता था। धर्म-कर्म, आचार-विचार में ज्ञान-विज्ञान में जनता स्वतन्त्र थी। परन्तु अब राजनीति सभी क्षेत्रों पर हावी हो रही है। सत्ता हथियाने के लोभ से अधिकाधिक लोग राजनीति में शामिल हो रहे हैं। देश में पचासों राजनीतिक पार्टियाँ बन चुकी हैं। झूठ, जाल-फरेब, दगाबाजी चारों ओर बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में सत्य, सदाचार, सच्चरित्रता शालीनता का अत्यन्त हास होने से धर्म, भक्ति, ज्ञान के अस्तित्व की रक्षा भी कैसे हो सकेगी ?

अतः अध्यात्मवाद पर आधारित धर्म-नियंत्रित शासनतंत्र का सिद्धान्त माननेवालों, रामराज्य-परिषद् जैसी भारतीय धर्मशास्त्रों एवं नीतिशास्त्रों से अनुप्राणित राजनीतिक संस्था को सबल बनाना अत्यावश्यक है। सन्त, साधु, आचार्य, विद्वान्, सद्गृहस्थ, धनिक, व्यापारी, किसान, मजदूर, मिलमालिक सब मिलकर रामराज्य-परिषद् को सहयोग देकर इस दृष्टि

कातावरण का अन्त करने में सहायक बनें। जहाँ तक सिद्धान्त एवं तर्क का प्रश्न है, आज कोई पार्टी या नेता रामराज्य के तर्कों, सिद्धान्तों के सामने खड़े नहीं हो सकते। “मार्क्सवाद और रामराज्य” जैसे ग्रन्थों एवं शास्त्रों तथा शास्त्रोक्त सदाचार सद्धर्मयुक्त सिद्धान्तों का निर्भीक प्रचार होना चाहिए तथा सिद्धान्तवादी दैनिक, साप्ताहिक पत्रों का भी विस्तार होना चाहिए। तदर्थ धार्मिक धनिकों को मुक्तहस्त होकर सहायता-प्रदान कर पुण्यलाभ करना चाहिए।

साथ ही जनसाधारण को भी परमुखापेक्षी न होकर “उपस्थितस्य गतिश्चिन्तनीया” के अनुसार इस गयी-बीती हालत में भी जो हो सकता है, उसे करने का प्रयास करना चाहिए। यह ठीक है कि अधिकांश धनिक, सन्त-महन्त तथा विद्वान् शक्ति के पीछे जाते हैं सिद्धान्त, सदाचार उनकी दृष्टि में नगण्य ही होता है। फिर भी तत्त्वज्ञानी धनिकों, विद्वानों एवं सन्तों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। कुछ न कुछ लोग हैं ही। प्राचीन काल में भी सोने की लंकावाले रावण के साथी अधिकांश होते थे और उसी से लाभ भी समझते थे। परन्तु हनुमान, अंगद जैसे वास्तविक अर्थ में धर्मवीर भी थे, जो सोने की लंका की परवाह न कर सदाचारनिष्ठ राम के ही साथी बने यद्यपि राम के पास भोजन-सामग्री (राशन) एवं शस्त्रास्त्र का भी प्रबन्ध नहीं था। अतः ईश्वर पर दृढ़तापूर्वक भरोसा रखते हुए आगे बढ़ना चाहिए। किसी दिन सफलता अवश्य चरण-चुम्बन करेगी, यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।

(‘विचार पियूष’ का दशम अध्याय)



पूँजीवाद

भौतिक पूँजीवाद के अनुसार संसार का धन बटोरकर मुट्ठी भर लोगों के पास इकट्ठा हो गया। अधिकाधिक लोग गरीब हो गये। पूँजीवाद ने अधिकाधिक लोगों की रोजी-रोजगार छीन लिये। लोगों में बेकारी, बेरोजगारी बढ़ गयी। फिर गरीबी का बढ़ना स्वाभाविक ही था। भले ही संसार में बड़े लोगों के लिए ज्यादा से ज्यादा ऐसे आराम की सामग्री इकट्ठी हो गयी है और उनके जीवित रहने के लिए नाना प्रकार की औषधों का प्रबन्ध हो गया है, परन्तु बेकार, बेरोजगार, गरीब के लिए कहीं कुछ नहीं है। बाजार में गेहूँ, चावल, चीनी, कपड़े, जूते, सायकिल, मोटर, हवाई जहाज सब कुछ होने पर भी बेकारी के कारण जनता की क्रयशक्ति घट जाने से, खरीदने को पैसा न होने से, उसके लिए सब बेकार ही है। इसलिए डाका, चोरी, कत्ल, जुआ, व्यभिचार आदि फैलते हैं। इन सबका हेतु वर्तमान भौतिक पूँजीवाद ही है। वर्तमान भौतिक पूँजीवाद से पहले भले ही कोई करोड़पति, अरबपतियों की संख्या कम रही हो, परन्तु सबके पास रोजी-रोजगार था। भौतिक पूँजीवाद के विकास से सबके रोजगार छिन गये।

पूर्वकाल में एक शहर में तेल पहुँचाने के काम के लिए सैकड़ों तेलियों, बैलों, अनेकों कोल्हू बनाने वाले बड़इयों तथा घर-घर तेल पहुँचाने वाले सैकड़ों मजदूरों की आवश्यकता पड़ती थी। हजारों व्यक्तियों को

जीविका के साधन खेती से रोजगार मिलते थे। पूँजीपतियों ने कुछ रुपये से मशीन खरीदकर मशीन बैठा दिया। थोड़े मनुष्यों द्वारा इतना तेल पैदा कर लिया कि दर्जनों शहरों के लिए तेज पर्याप्त हो गया। यातायात के साधन रेल, बस, ट्रक आदि का प्रबन्ध करके लाखों आदमियों की जीविका छीन ली, उन्हें बेकार-बेरोजगार कर दिया। देश के लिए कपड़ा बनाने, सूत कातने, चरखा बनाने में लगे लाखों-करोड़ों कारीगरों को बेकार-बेरोजगार बनाकर, कपड़े की मशीन धुँआधार माल पैदा करने लगी। लाख-लाख करोड़-करोड़ मनुष्यों का काम आधुनिकतम मशीनों द्वारा सैकड़ों हजारों मनुष्यों में द्वारा सम्पन्न होने लगा। फलतः करोड़ों लोग बेकार, बेरोजगार होकर गरीबी की चक्की में पिसने लगे। इतना ही नहीं पूँजीवाद ने अपने विनाश का इन्तजाम भी स्वयं ही कर लिया। वह धन कमाने के लोभ से कम से कम मनुष्यों द्वारा कम से कम समय में अधिक से अधिक माल पैदा करने के लिए नयी-नयी मशीनें बनाने के लिए बुद्धिजीवी, श्रमिकों, वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन देने लगा और नयी-नयी मशीनें बनने लगीं। लाख-लाख मनुष्यों का काम मशीनों से सैकड़ों मनुष्यों द्वारा होने लगा। फलतः लाखों-करोड़ों मजदूर बेकार हो गये।

इस तरह एक-एक राष्ट्र में करोड़ों व्यक्ति बेकार हो गये। मुठ्ठीभर लोगों के पास ही धन एवं पूँजी तथा रोजी-रोजगार रह गया। फलतः राष्ट्रों की क्रयशक्ति क्षीण हो गयी। बाजार में सब तरह की जिन्स भरी है, कपड़े हैं, गेहूँ हैं, चावल हैं, चीनी है, तेल है, सायकिलें हैं, मोटरें हैं पर खरीददार नहीं। फलतः माल की खपत होनी रुक गयी। पूँजीपति किसी हालत में बाजार में माल को सस्ता नहीं होने देता। भले ही उसे लाखों टन चीनी-चावल समुद्र में फेंक देना पड़े। जहाँ तक औद्योगिक क्रान्ति सीमित थी। कुछ ही राष्ट्रों तक थी, वहाँ तक तो दूसरे राष्ट्रों के बाजारों में पूँजीपति अपने माल को भेजकर धन कमाता था। परन्तु अब

तो सभी राष्ट्रों में औद्योगिक क्रान्ति हो गयी। अपने देश के माल से ही अपने देश की बाजारें भरी पड़ी हैं। दूसरे देश के मालों के खपत की कोई गुंजायश नहीं है।

उपनिवेशवाद के द्वारा पूँजीवादी राष्ट्र अपने देश के माल को अपने उपनिवेश में भेजकर खपत कर लेते थे। परन्तु अब उपनिवेशवाद भी समाप्त हो रहे हैं। ऊर्जा संकट के कारण भी नयी-नयी समस्याएँ राष्ट्रों के सामने हैं। इस स्थिति में पूँजीपति मशीनों की उत्पादन की रफ्तार को कमकर कम माल उत्पादन करके अपने बाजारों में ही माल खपत करना चाहेगा। फलतः मजदूरों की छँटनी करनी पड़ेगी जिससे और अधिक बेकारी बढ़ने से क्रयशक्ति और क्षीण होगी। फिर माल की खपत और भी कम होगी। फिर और छँटनी करनी पड़ेगी इस प्रकार पूँजीवाद के सामने माल की खपत कर मशीनों को चालू रखने का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। तब उत्पादन मुनाफा के लिए नहीं, उपभोग के लिए ही मुख्य तौर पर होता है। मुनाफा के लिए फलतः उपभोक्ताओं के अनुसार ही उपभोग वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं। बेकार मजदूरों को अन्य कारखानों तथा उद्योगों द्वारा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाता है। यह सब पूँजीपति के लिए सम्भव नहीं होता। इस तरह भौतिक पूँजीवाद के पेट से ही भौतिक पूँजीवाद को नष्ट करके उसका पेट फाड़कर भौतिक समाजवाद उत्पन्न होता है।

मशीन का आविष्कार बुद्धिजीवी श्रमिक वैज्ञानिकों ने किया। पूँजीपति केवल पैसे के बल पर उससे फायदा उठाता है। किसी भी पूँजीवाले ने कोई छोटी-सी भी मशीन पैदा नहीं की। उसकी प्रतिभा केवल तिकड़म में है। वह प्रतिभा का प्रयोग शोषण में ही करता है। काश्तकार की भूमि से उत्पन्न कच्चे माल द्वारा या खानों से निकाली गयी सामग्रियों द्वारा और वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत मशीनों और मजदूरों के श्रम से फायदा उठाता

हैं, उनके साधनों, परिश्रम के फलों से वंचित रखकर अन्य विषयों में पूँजीपति पूरा भोंदू होता है। कोई भी कला, कोई भी ज्ञान, उसमें नहीं होता है। आज का नवीनतम आविष्कार कम्प्यूटर की भाषा समझने की बात दूर रही, साधारण से साधारण गणित में भी वह भोंदू ही है तथापि उसे जैसे जैसे लोगों को उनके जायज फायदों से वंचित करके, उनसे नाजायज फायदा उठाकर समाज का शोषण करना है।

इस तरह मार्क्सवादियों के अनुसार श्रमिकों की सारी कमाई का फल पूँजीपति हड़प लेता है। श्रमिकों को उसमें से थोड़ा सा ही देता है। श्रमिकों से आठ-दस या बारह घण्टे काम लेता है। उसे एक घण्टे का फल देता है। ९ घण्टे का फल अपनी जेब में रखता है। वैज्ञानिकों से उत्तमोत्तम मशीन बनवाकर, उनसे अरबों की सम्पत्ति कमाता है, पर वैज्ञानिकों को उसका नगण्य अंश वेतन, पुरस्कार आदि के रूप में देता है। इसी को अतिरिक्त आय या अतिरिक्त लाभ कहा जाता है। यही शोषण है।

ऐसी ही खेतों में किसान-मजदूर काम करके कपास, गन्ना, पटसन आदि तैयार करते हैं। उन्हें उनका नगण्य दाम देकर कारखानों में उनके द्वारा कपड़ा, चीनी आदि बनाकर हजारों गुना कमाता है। यह सब शोषण है। आखिर पूँजीपति कहाँ से सम्पत्ति पैदा करता है, उसके मस्तिष्क से या छू-मन्तर से या आकाश से सम्पत्ति नहीं टपकती है किन्तु खेतों, खानों से कच्चा माल लाकर मशीनों, कारखानों द्वारा उनसे हजारों तरह की उपयोगी वस्तुएँ उन्हीं श्रमिकों के द्वारा बनवाकर बाजारों में महंगे भावों में बेचकर ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाता ही, सम्पत्ति पैदा करता है। वह सब खेतों, खानों, मशीनों, कारखानों और श्रमिकों से खरीद कर आती है।

धर्मनिरपेक्ष भौतिक पूँजीवाद में यह सब बात कहाँ है। बाँटकर खाने के सिद्धान्त में बड़ी पूँजी का इकट्ठा होना असम्भव ही होता है।

एक घर में १०० मन गेहूँ है। यदि घर दस अन्य सदस्यों को बीट का खाने का सिद्धान्त अपनावेगा तो दस मन ही मिलेगा। अन्य को वंचित कर, स्वयं समेट कर धनी बनने की नीति चलेगी तभी एक के पास १०० मन गेहूँ रह सकेगा। इसी तरह यदि संसार के सभी उत्पादन साधन, भूमि, सम्पत्ति खानें, मशीनें मुड़ी भर लोगों के हाथ में रहेंगे, तो शेष करोड़ों व्यक्तियों को उत्पादन साधनों से वंचित होकर गरीबी, भुखमरी का शिकार बनाना ही पड़ेगा।

यदि पूँजीपति बड़ी-बड़ी मशीनों, कल-कारखानों द्वारा ज्यादा से ज्यादा उपयोग की वस्तुएँ कपड़ा, कम्बल, सूत, तेल, चीनी, साइकिल, मोटर बनाकर संसार के बाजारों पर कब्जा कर लेंगे तो छोटे-छोटे उद्योग धन्धे कैसे पनप सकते हैं ? तेल मिलों का मुकाबिला कोल्हू द्वारा बेल कैसे कर सकेंगे ? चीनी की मिल का मुकाबिला कोल्हू द्वारा गुड़ बनाने वाले कैसे कर सकते हैं। कपड़े की मिलों का मुकाबिला हथकरघे वाले कैसे कर सकेंगे। भूमि और खानें निःसीम नहीं हैं। बड़ के समान वे बढ़ने वाली भी नहीं हैं। यदि उनपर थोड़े से ही लोगों का अधिकार हो जायेगा तो शेष करोड़ों मनुष्यों के लिए क्या होगा ? अतः उत्पादन साधन या सम्पत्तियों का दस-पाँच स्थानों में ही अधिकाधिक मात्रा में एकाग्र होने की अपेक्षा कम मात्रा में ही सही, परन्तु अधिकाधिक लोगों में वितरित होना ही, सामाजिक हित के पक्ष में होता है। इसीलिए सम्पत्ति के केन्द्रीकरण की अपेक्षा विकेन्द्रीकरण ही न्यायसंगत है।

अनियंत्रित भौतिक पूँजीवाद सरकारों को भी अपने हाथ में रखा है। पूँजीपति एम० एल० ए०, एम० पी० लोगों तथा विभिन्न पार्टियों को पैसे के बल पर खरीद सकता है, जिसमें उनके विरुद्ध कोई आवाज न उठा सके। उनका न्याय-अन्याय सब कुछ चल सके। इन्हीं के प्रभाव से एक-एक एम० एल० ए० के निर्वाचन में चालीस-चालीस लाख रुपये

खर्च किया जाता है। जीपों, पोस्टरो, कार्यकर्ताओं एवं गुडों के बल पर चुनाव जीत लिया जाता है। यदि पचसर करोड़ रुपया खर्च करने में कोई राज्य सरकार हाथ में आ जाय तो सौदा मँहगा नहीं समझा जाता। दस-पाँच अरब खर्च करके यदि राष्ट्र काबू में आ सकता है तो पूँजीपतियों के लिए यह सरल काम है। इस प्रकार अनियंत्रित भौतिक पूँजीवाद जनहित के अनुकूल नहीं है। जहाँ धर्म नहीं है, ईश्वर नहीं है, पाप से डर नहीं है, वहाँ धन और सत्ता के दर्प में कुछ भी अनर्थ हो सकता है।

यह ठीक है कि बड़े मकानों के सहारे छोटे मकान बन सकते हैं। जितने अधिक बड़े मकान बनेंगे, उनके आसपास छोटे मकान भी कुछ अधिक बड़े हो जायेंगे। परन्तु इसमें पूँजीपतियों की सद्भावना नहीं जैसी हो होती है, उनका स्वार्थ ही मुख्य है। छोटे शोपडों, छोटे मकानों, के बिना बड़े मकानों की रक्षा एवं निर्माण दोनों असम्भव है। इसलिए उनका पोषण एक सीमित मात्रा में पूँजीपति को सह्य होता है।

जैसे ताँगेवाला घोड़े को इसीलिए चारा, दाना देता है जिससे वह मर न जाय, उसका काम करता रहे, ताँगा खींचता रहे। उसके लिए पैसे की कमाई करता रहे। इसी तरह पूँजीपति मिल मालिक, उद्योगपति करोड़ों-अरबों की कमाई के लिए हजारों वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों, ओवरसियरों, कारीगरों, कामगारों को वेतन देकर उनसे काम लेते हैं। यदि उनके बिना भी उनकी कमाई होती रहे, बाधा न पड़े तो वे उन्हें फूटी कोड़ी भी देने को तैयार न होंगे। उनके दान-पुण्य तथा उनकी विद्वानों-महात्माओं की भक्तिपूजा भी इसीलिए होती है कि उनके सब कृत्यों पर परदा पड़ा रहे और परलोक की सीट भी रिजर्व हो जाय, और शान्तिमय धार्मिक उपदेशों से मजदूरों की ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला कुछ ठण्डी पड़ जाय।

पूँजीवादी सरकारों को हटाना भी असम्भव होता है। पूँजीवादी राष्ट्रों में प्रायः लोकतंत्र का नाम लिया जाता है, और कहा जाता है कि जनता

की सरकार है। शासन की सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित है। राष्ट्रपति, प्राइममिनिस्टर सब जनता के सेवक हैं। मालिक जनता है, जनता के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बना ले। सबको भाषण, लेखन की स्वाधीनता है। प्रेस चलाने तथा अखबार निकालने की सबको छूट है। राष्ट्रपति, प्राइममिनिस्टर की समालोचना धड़ल्ले से की जा सकती है। हर एक व्यक्ति पार्टी बना सकता है, निर्वाचन लड़ सकता है। जनता से कहा जाता है कि आप की सरकार है। आओ एम० एल० ए० बनो, प्राइममिनिस्टर बनो, राष्ट्रपति बनो, मनचाही सरकार बना लो, नापसन्द सरकार बदल दो। परन्तु जनता कंगाल है। उसके पास तन ढकने को कपड़ा नहीं है। पेट भरने को रोटी नहीं है। बीमार बच्चे के लिए इलाज नहीं है। निर्वाचन की जमानत दाखिल करने के ढाई सौ या पाँचसौ रुपये नहीं हैं, फिर निर्वाचन कौन, कैसे लड़ेगा? निर्वाचन की मँहगाई यहाँ तक बढ़ जाती है कि एक-एक एम० एल० ए०, एम० पी० का चुनाव जीतने के लिए चालीस लाख खर्च किया जाता है। राष्ट्र का धन सिमटकर मुट्ठी भर लोगों के पास पहुँच गया है। करोड़ों व्यक्ति कंगाल हैं। ऐसे मँहगे इलेक्शन में कोई आदमी कभी सफल नहीं हो सकता। छोटी-सी बातों के लिए गरीब को फाँसी पर लटका दिया जाता है। अमीर बड़े-बड़े अपराध पैसे के बल पर छिप जाते हैं। हत्याएँ, बलात्कार करके भी पैसे के बल पर पूँजीपति छूट जाता है।

(रजनीश के विचारों के खण्डन में लिखित पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य से)



समाजवाद

समाजवाद एवं साम्यवाद का प्रचार और प्रभाव लगभग संसार के सभी देशों में है। पूँजीवादी देशों में भी समाजवाद एवं साम्यवाद का आतंक है। सेंट साइमन आदि फ्रांसीसी विद्वान् कार्ल मार्क्स एवं एंगेल्स आदि से बहुत पहले समाजवाद का प्रचार करते रहे हैं। संसार में समानता भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता का उद्घोष (नारा) सर्वप्रथम फ्रांसीसी विद्वानों ने ही बुलन्द किया था। आज के समाजवाद में उस समय के समाजवाद से बड़ा अन्तर हो गया है। उस समय व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखानों एवं लोगों की वैधसम्पत्ति, गाढ़े पसीने की कमाई, बपौती मिलकियत, दान, पुरस्कार में प्राप्त सम्पत्ति के अपहरण की बात नहीं चलती थी। ऐसा करना चारित्रिक दृष्टि से अनुचित माना जाता था। फलतः कोई पार्टी या सरकार किसी भी नागरिक की वैध सम्पत्ति को उसकी बिना मर्जी या उचित मुआवजा दिये लेना अनुचित समझती थी। कार्ल मार्क्स के सामने भी उक्त समस्या ज्यों-की-त्यों खड़ी हुई थी।

कार्ल मार्क्स का विचार था कि यदि कोटिपति, अरबपति का उत्तराधिकारी पुत्र पौत्र आदि कोटिपति, अरबपति होते रहे और दरिद्र दीन हीन कौड़ीपति के पुत्रादि कौड़ीपति, दरिद्र ही होते रहे तो समानता, स्वतंत्रता भ्रातृत्व के उद्घोष का कोई अर्थ ही नहीं। ऐसी भीषण विषमता के रहते हुए समानता का उद्घोष केवल मखौल ही बनकर रह जायेगा।

अन्त में मार्क्स ने उस व्यवस्था का विरोध करना आरम्भ किया और उसने बताया कि संसार में कोई व्यवस्था या नियम शाश्वतिक या नित्य सदा सर्वदा के लिए स्थायी नहीं हो सकती। देशकाल, परिस्थितियों के अनुसार अनेक व्यवस्थाएँ, नियम, कानून, संविधान बनते हैं। परिस्थिति के अनुसार उनमें रद्दोबदल भी होता है।

आमतौर पर संसार के सभी नियम माली हालतों के आधार पर बनते-बिगड़ते हैं और माली अवस्था बहुधा उत्पादन के साधनों पर निर्भर करती है। भूमि, कल-कारखाने या हीरे-सोने, चाँदी, लोहे कोयले तथा डीजल, पेट्रोल आदि के खानों पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार कभी रहा होगा और परिस्थिति के अनुसार उस समय वह उचित हो सकता था। परन्तु आज की बदली हुई परिस्थिति में वह कदापि उचित नहीं है। प्राकृतिक साधनों, भूमि, खानों आदि पर किसी का स्वाभाविक अधिकार नहीं है। प्रबल लोगों ने दुर्बलों को दबाकर उत्पादन साधनों पर एकाधिकार स्थापित किया है। अज्ञातकाल से समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। अब वह समय आ गया है जब शोषितों ने शोषकों के विरुद्ध आवाज उठाना प्रारम्भ कर दिया है।

मार्क्स ने इस प्रकार वर्ग-संघर्ष का सूत्रपात्र करके यह बताया कि उक्त बुराई को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र के उत्पादन साधनों पर व्यक्तियों का अधिकार न होकर राष्ट्र या समाज का अधिकार होना ही समाज और राष्ट्र के सभी नागरिकों के लिए हितकर है। सबको स्वेच्छानुसार शिक्षा पाने, काम सीखने तथा उसका फल पाने का समान अवसर प्राप्त हो।

वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष भौतिक पूँजीवाद और भौतिक समाजवाद सभी अपूर्ण और सदोष हैं। धर्महीन साम्राज्यवाद, समान्तवाद भी हितकारी नहीं हैं। वार्ता विद्या द्वारा पर्याप्त सम्पत्ति पैदा करने पर भी प्रबल लोग

दुर्बलों की कमाई का अपहरण करते हैं। इस तरह कमाता और है खाता और है। कमाने वालों को अपनी कमाई का फल भोगना असम्भव हो जाता है। इसीलिए दण्डनीति व्यवस्था का जन्म हुआ। मात्स्य-न्याय से पीड़ित प्रजा ने सामाजिक समझौते या प्रजापति के उपदेश से शासन व्यवस्था स्वीकार की। शासन को निग्रहानुग्रह अधिकार प्रदान किया। उसे कर देना अंगीकार किया फिर भी सज्जनों का सच्चा शासक उनका गुरु या आचार्य ही होता है। राजा का शासन तो दुरात्माओं पर ही होता है। परन्तु शासन के सामने भी अनिवार्य कठिनाइयाँ होती हैं। कोई भी शासन संविधान के अनुसार नहीं होता है। परन्तु संविधान निरपेक्ष नहीं होता। अगर कोई हत्या करके फरार हो जाय, पकड़ में न आवे, तो संविधान कुछ भी नहीं कर सकता और जब तक कोई प्रत्यक्षदर्शी साक्षी (गवाह) न मिले तो वह और भी कुछ नहीं कर सकता। साक्षी मिथ्यावादी हो सकता है। अतएव प्रच्छन्न पातकी प्राणी कानून से बँच सकता है।

प्रच्छन्न पाप वाले प्राणियों का शासन राजा नहीं कर सकता; उसका शासन अन्तर्यामी वैवस्वत यम ही करते हैं। अतएव धर्म नियंत्रित शासक ही यथायोग्य दुष्ट-निग्रह एवं शिष्टानुग्रह कर सकता है।

वर्तमान भौतिक पूँजीवाद एवं भौतिक समाजवाद की परिभाषा पूर्वोक्त ही है। उत्पादन साधनों का वैयक्तिक होना पूँजीवाद है, सामाजिक होना समाजवाद है। समाजवाद में अध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है, उसमें धर्म नहीं, ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं है, दया, दान आदि का कोई महत्व नहीं है, न व्यक्तिगत भूमि, न व्यक्तिगत सम्पत्ति, न व्यक्तिगत खेत-खलिहान, न व्यक्तिगत उद्योग-धन्धे, न व्यक्तिगत मकान, न व्यक्तिगत औरत और बच्चे ही हो सकते हैं। होटल में खाना और हास्पिटल में सड़ना ही मनुष्य की जिन्दगी होती है।

जो समाज के कर्णधार, सरकार के संचालक, अधिनायक या डिक्टेटर होते हैं, उन्हीं के हाथ में समाज या राष्ट्र की बागडोर होती है। समाज के नाम पर राष्ट्र की सारी भूमि, सम्पत्ति, शक्ति उन्हीं के हाथों में होती है। सत्ता के लिए संघर्ष हो तो एक डिक्टेटर दूसरे डिक्टेटर का पेट फाड़कर पैदा होता है।

शासनतंत्र उसी के हाथ का खिलौना होता है। जनता शासनतंत्र का नगण्य कल पुर्जा है। प्रतिकूल शासन या शासनाधिकारी डिक्टेटर को बदलने की शक्ति भी जनता के हाथ में नहीं रहती है। समाजवादी राष्ट्रों में इलेक्शन होता है, परन्तु पार्टि द्वारा मनोनीत उम्मीदवार के मुकाबले में कोई दूसरा उम्मीदवार नहीं होता है। समाजवादी राष्ट्रों में कोई दूसरी पार्टि नहीं होती है। कोई स्वतंत्र अखबार नहीं होता है। लेखन, भाषण की स्वतंत्रता नहीं होती है। कानून के बल पर जनता को पार्टि के मनोनीत व्यक्ति को वोट डालना पड़ता है। रूस में, चीन में यही हालत है।

अधिकांशतः अन्य राष्ट्रों ने भी समाजीकरण या राष्ट्रीकरण का सिद्धान्त मान रखा है। अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि में भी अधिकांशतः इस्पात, विद्युत, अस्त्र-शस्त्र निर्माण आदि के कारखाने सरकारी हैं। जब जिसके सरकारीकरण की आवश्यकता समझी जाती है, सरलता से पार्लियामेंट के प्रस्ताव से उसका राष्ट्रीकरण कर लिया जाता है। भारत में भी राज्यों, जमीन्दारियों, जागीरदारियों तथा काश्तकारी आदि का बैंकों, बीमा निगमों, विद्युत उद्योगों का तथा अनेक कारखानों का राष्ट्रीकरण हुआ है। इन सबका आधार मार्क्सवादी सिद्धान्त ही है। अन्यथा तो किसी भी व्यक्तिगत वस्तु का अपहरण डाका या चोरी कोटि में ही परिगणित हो सकता है।

अनेक राष्ट्रों के कर्णधारों ने (जैसे भारत के नेहरू, यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो, पोलैण्ड के डाक्टर गोमुल्का आदि) अपने यहाँ समाजवाद की घोषणा की है। उसका निर्वाचन लोकतंत्र के ढंग का होता है। अन्य

पार्टियाँ भी हो सकती हैं। कोई भी नागरिक पार्टी बनाकर या स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़ सकता है। स्वतंत्र अखबार भी निकाल सकता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में प्रत्येक नागरिक को लेखन, भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के विरुद्ध भाषण दिये जा सकते हैं। लेख लिखे जा सकते हैं, अंशतः न्यायपालिका भी स्वतंत्र रहती है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के विरोध में न्याय दिया जा सकता है। परन्तु वस्तुस्थिति दूसरे ढंग की होती है। अधिकांश वस्तुओं का समाजीकरण, राष्ट्रीकरण के पश्चात् अधिकांश लोग धनहीन हो जाते हैं। मुठ्ठीभर व्यापारियों, शेयर होल्डरों के पास ही सम्पत्ति होती है। फलतः अखबार निकालने की छूट होने पर भी अखबार निकालने और चलाने की शक्ति मुठ्ठीभर लोगों के हाथ में रहती है। पार्टी बनाने तथा चुनाव लड़ने की छूट सबके लिए है, परन्तु इसके लिए शक्ति का अभाव है। क्योंकि भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखाने तथा खानों के छिन जाने से अधिकांश जनता गरीब है, कंगाल है। अतः सबकी छूट होने पर भी जनता कुछ नहीं कर सकती।

समाजवादी सभी उत्पादन साधनों का राष्ट्रीकरण करके सबको यथायोग्य काम, दाम, आराम की व्यवस्था करके बेकारी दूर करने का प्रयास करते हैं। बेकारी रोकने के लिए समाजवादी सरकारें नये-नये उत्पादन के लिए नये-नये कारखाने चलाती हैं। कामगारों के काम करने के घण्टों में कमी करके अधिक से अधिक मजदूरों को काम देने का प्रयत्न करते हैं।

पूँजीवाद से ही समाजवाद की उत्पत्ति होती है। पूँजीपति उत्तरोत्तर उद्योग-धन्धों का विस्तार करके करोड़ों व्यक्तियों को बेरोजगार बना देता है। जब राष्ट्र में बेरोजगारों की संख्या बढ़ जाती है तब राष्ट्र की क्रय-शक्ति घट जाती है। कारखानों में बनी वस्तुओं के खरीददार नहीं रह जाते और उनकी खपत बन्द हो जाती है। तब पूँजीपतियों के कृत्यों से ही उनके मार्ग में गतिरोध खड़ा हो जाता है और तब मजदूरों और बेकार

बेरोजगारों की पलटन उनके विरुद्ध संघटित होकर, उनको खत्म करने का प्रयत्न करती है। पूँजीपतियों के कारण ही कारखानों की बहुतायत और मजदूरों को, बेकारों को एकत्रित होने का अवसर मिलता है। इस तरह पूँजीवाद के पेट से ही उत्पन्न होकर समाजवाद पूँजीवाद के अन्त या नाश का हेतु बनता है। (पूँजीवाद, समाजवाद और रामराज्य से)



सरकारी-करण धर्म-विरुद्ध

कुछ लोग कहते हैं कि भारतवर्ष में “भारतीय समाजवाद” का होना उचित है। ऐसे लोग “भारतीय साम्यवाद” का भी नाम लेते हैं। किन्तु विचारणीय तो यह है कि “क्या पाश्चात्य या मार्क्सिय समाजवाद एवं साम्यवाद से उसकी कुछ समता है?” स्पष्ट है कि यदि भूमि संपत्ति, कल-कारखाने, उद्योग-धन्धे आदि उत्पादन-साधनों का राष्ट्रीकरण या सरकारीकरण मान्य है, तब तो मनु याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्रों का सुस्पष्ट विरोध होगा, क्योंकि उनके मतानुसार दाय, जय क्रयादि द्वारा प्राप्त भूमि और संपत्ति वैध सम्पत्ति है, उसका छीन लेना बलात्कार ही होगा। यदि वर्णाश्रमी जनता को ही “समाज” कहा जाय, तो भारतीय जनता को ही “भारतीय समाज” कहा जा सकता है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार ही भारतीयता का निर्णय हो सकेगा। फिर तो भारतीय मनु, शुक्रादि शास्त्रों के अनुसार चलनेवाली जनता ही भारतीय समाज तथा भारतीय शास्त्रोक्त धार्मिक, राजनीतिक व्यवस्था ही समाजवादी व्यवस्था होगी। इसमें राष्ट्रीकरण, समाजीकरण आदि कुछ भी नहीं सिद्ध होता। पर आजकल समाजवाद, साम्यवाद के नाम पर मार्क्सिय आर्थिक सामाजिक व्यवस्था प्रारब्ध होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि “दाय, जय, क्रय आदि रूप से प्राप्त होने वाले अर्थ के सम्बन्ध में यद्यपि भारतीय धार्मिक एवं राजनीतिक

शास्त्रों ने बहुत कुछ लिखा है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें रहोबदल नहीं हो सकता। अर्थ सम्बन्धी नियमों को धार्मिक नियम भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्रैकसमधिगम्य वस्तु ही धर्म हो सकता है। किन्तु आर्थिक प्रश्न तो सर्वथा लौकिक है, अतएव शास्त्र न मानने वालों के यहाँ भी दाय आदि व्यवस्था चलती ही है। इसलिए भारतीय आत्मा, ईश्वर, धर्म आदि को स्वीकार करते हुए भी मनु शुक्रादि के विपरीत आर्थिक-व्यवस्था चालू करने में भी कोई धार्मिक विरोध नहीं होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि “सप्त वित्तागमा धर्म्याः” इस मनु की स्मृति के अनुसार दाय, जय, क्रय आदि से प्राप्त धनागम धर्म्य है। जैसे संग्राम लौकिक भी हो सकता है तथापि क्षत्रिय के लिए नियमानुसार संग्राम धर्म्य है। गीता में कहा गया है कि धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।” अर्थात् क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त संग्राम में अन्य कोई श्रेय नहीं।” अथ चेतुर्मिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्म कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि।” अर्थात् यदि तुम धर्मयुक्त संग्राम न करोगे, तो स्वधर्म एवं कीर्ति से रहित होकर पाप के भागी होगे। इसीलिए युद्ध को “अनावृतद्वार स्वर्ग” ही कहा गया है। इस तरह सात प्रकार के वित्तागम को ‘धर्म्य’ कहा गया है और ऐसे वैध धन के हरण को “चौर्य” कहा जाता है।

“पिण्डं दत्त्वा धनं हरेत्” के अनुसार जो पिण्डदान का अधिकारी हो, वही दायभागी होता है। पुत्र के रहते हुए पुत्री को पिण्डदान का अधिकार नहीं, अतएव पुत्र के रहते पुत्री को दायधिकार भी नहीं है। पुत्राभाव में पुत्री को पिण्डदानाधिकार है, अतः दायधिकार भी है। “सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय” (निरुक्त २३/१/४/६) के अनुसार सन्तानकार्य एवं पिण्डदान ही पुत्र का मुख्य कार्य है। “न जामये तान् वो रिक्थमारैक्” (ऋग्वेद) इस ऋक्-मन्त्र के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि पुत्री के लिए

रिक्ख दाय का विधान नहीं है। "तस्मात् पुमान् दायदः स्त्री अदायादा" (निरुक्त ३/१) अर्थात् पुत्र दायभागी होता है, पुत्री नहीं। किन्तु अघ्रातृका या पुत्रिका दायभागिनी होती है। ब्राह्मण प्रतिग्रहादि द्वारा, क्षत्रिय विजयादि द्वारा वैश्य कृष्यादि द्वारा शूद्र शुश्रूषा-शिल्पादि द्वारा एवं सभी रिक्खादि द्वारा सम्पत्ति के स्वामी होते हैं—

"स्वामी रिक्खकयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु।"

पितामहादि द्वारा अर्जित भूमि, निबन्ध एवं सुवर्ण-रजतादि द्रव्यों पर पिता के तुल्य ही पुत्र का भी स्वाम्य होता है—

भूर्मा पितामहोपाता निबन्धो द्रव्यमेव वा।

तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुःपुत्रस्य चैव हि॥

(याज्ञवल्क्य, वयय० १२१)

जो भागार्ह को भाग नहीं देता, वह भागवंचित उसे नष्ट कर देता है; यदि उसे नष्ट नहीं करता तो भी उसके पुत्र या पौत्र को नष्ट करता ही है— "यो हि वै भागिनं भागात्र दत्ते चयते चैतं स यदि वैनं न चयते अथ पुत्रमथ पौत्रं चयते, इति श्रुतिः" (मिताक्षरा)। परस्वत्वापहरण ही चौर्य है। अपने द्वारा या अन्य द्वारा दी गयी ब्रह्मवृत्ति का जो हरण करता है, वह साठ हजार वर्ष विष्ठा कृमि होता है— "स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः। षष्ठिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः।" ब्रह्मस्वापहरण तो महापातकों में परिगणित है। सामान्यरूप से भी परधन और परक्षेत्र का हर्ता "आततायी" कहलाता है— "अग्निदो गरदक्षैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदागपहर्ता च षडेते आततायिनः॥" इस तरह व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि का अपहरण पातक ही है।

इस प्रकार सरकारीकरण का पक्ष भारतीय धर्म एवं भारतीय नीति से विरुद्ध है। यों भी जाति, आयु एवं भोग प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों

का फल होता है। प्राणी व्यक्तिगत रूप से शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप भूमि, सम्पत्ति प्राप्त करता है। अतएव व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपहरण धर्मविरुद्ध है।

(सिद्धान्त वर्ष १२, पृ० ४०५-४०६)



वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक संतुलन

सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रामराज्य में मान्य है, जबकि भौतिकवादी राजनीतियों का विकास इससे विपरीत है। पश्चिम के राजतन्त्र ने अपने ऊपर नियामक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की। इसी प्रकार पूँजीपतियों ने अपने ऊपर नियामक राजशक्ति के विरुद्ध क्रांति कर पार्लमेण्टरी सरकार की स्थापना की और 'जनतंत्र' का नारा लगाया। फलतः वैयक्तिक स्वार्थमूलक शोषण का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि इन दो क्रान्तियों से व्यक्ति की उदाम प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करनेवाले धर्म तथा राजशक्ति दोनों की समाप्ति हो गयी और प्रतियोगितामूलक, उपयोगितावादी जनतंत्र का विकास हुआ। वहाँ के समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अवसर-विशेष के कारण उस भ्रष्ट जनतंत्र का समर्थन किया। "बेन्थम" जैसे उदार विचारवाले व्यक्ति ने अधिकतम लोगों के ही सुख की अभिकांक्षा की। प्रसिद्ध जीवशास्त्री "स्पेंसर" तथा "डार्विन" जैसे विद्वानों ने भी "संघर्ष में योग्यतम ही बच सकता है और उसे ही बँचना चाहिए" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। "माल्थस" ने इस भ्रष्ट जनतंत्र से उत्पन्न अवस्था के असन्तुलन का उत्तरदायी जनसंख्या के सिद्धान्त से प्रकृति को बतलाया।

निष्कर्ष यह कि धर्म तथा राज्यशक्तियों के नियंत्रण से विहीन वैयक्तिक सम्पत्तिमूलक जनतंत्रवाद के गर्भ में शोषण तथा उत्पीड़न का जन्म हुआ। एक ओर सन्तरे सड़ रहे थे, तो दूसरी ओर वे लोगों को इलाज के लिए

भी नहीं मिलते थे। एक ओर कड़ाके के जाड़े में भी महलों के लोग गर्मी से पीड़ित थे तो दूसरी ओर लोग गर्मी के महीनों में भी भूख की ज्वाला से सड़कों पर ठण्डे हो रहे थे। तात्पर्य यह कि इस परिस्थिति में ऐसे अव्यवस्थित समाज का जन्म हुआ जिसमें एक ओर लोग अतिमुख से दुखी थे और दूसरी ओर मनुष्य जैसी अमूल्य ईश्वर की रचना मात्र "कंकाल की छाया" बनकर माँगपूर्ति का सन्तुलनबिन्दु बनी थी।

प्रतिक्रियास्वरूप समाज ने वैयक्तिक के विरुद्ध नारा लगाया। सम्पत्ति का समाजीकरण, केन्द्रीकरण, राष्ट्रीकरण आदि आर्थिक धारणाएँ समाज में उठने लगीं। समाजवादी, साम्यवादी, फासिस्टवादी और नाजीवादी आदि प्रवृत्तियाँ ऐसे ही विचारों का प्रतिनिधित्व करती थीं। 'मार्क्स' ने वैयक्तिक सम्पत्ति समाप्त कर सर्वहारा के अधिनायकत्व का समर्थन किया और लेनिन ने उसका यूरोप के बड़े भूभाग रूस पर प्रयोग किया। उसका संघटन स्तालिन ने किया, जिसमें अधिनायकत्व शासन ने वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयत्न किया। उसे कहाँ तक सफलता मिली, वहाँ की जनता ने किस प्रकार विवशतापूर्वक रक्तस्नान किया, यह स्वतंत्र विषय है। वहाँ की नागरिक स्थिति उस कुत्ते से अच्छी नहीं, जिसे खाने-पीने, स्नान करने की तो पूर्ण व्यवस्था हो, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक टहलने और भूँकने पर पूर्ण प्रतिबन्ध हो। साम्यवाद पूँजी के केन्द्रीकरण का प्रतिवाद प्रस्तुत करता है, किन्तु आज विश्व की आर्थिक व्यवस्थाओं में पूँजी का केन्द्रीकरण स्वयं रूस में सर्वाधिक है। जनता के नाम पर लेनिन, स्तालिन और खुश्चेव ने वैसे ही किया और कर रहे हैं, जैसे १४वीं शताब्दी में "लुई" ने भगवान् के नाम पर फ्रांस पर शासन किया था।

कहा जाता है कि रूस में वर्ग, जाति, शोषण के स्रोत तथा पूँजीवाद मनोवृत्ति का पूर्ण "सफाया" हो गया है, फिर भी शासन में खर्च का सर्वाधिक अंश आन्तरिक खुफिया, पुलिस आदि पर खर्च किया जात

हैं। कालेनकोव, मोलोतोव, बुल्गानिन, खुश्चेव जैसे मार्क्सवाद के यशस्वी नेता गद्दार बन जाते हैं। क्या मनुष्य पर विश्वास करनेवाले मार्क्स के काल्पनिक "राज्यविहीन समाज" की ओर रूस के जाने का यही मार्ग है ? कहने का तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास तो किया गया है, किन्तु समाज में व्याप्त वैयक्तिक आकांक्षाओं के उन्मूलन के लिए सैन्य-शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन नहीं किया गया। जो कोई अन्य मार्ग था, उसे मार्क्स ने "अफीम की गोली" समझा। वस्तुतः अरस्तू के शब्दों में वैयक्तिक सम्पत्ति वह दर्पण है, जिसमें मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है। आगे चलकर उसने कहा है कि "मनुष्य का जो कुछ अपना है, उसी पर वह गर्व करता है।"

रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है, किन्तु उसका सन्तुलन किया जाता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व द्वारा होती है। स्वत्व सात प्रकार का हुआ करता है : १. दाय, २. निध्यादि और पुरस्कार का लाभ, ३. क्रय द्वारा अर्जन, ४. विजय, ५. सूद, ६. कर्मयोग (कृषि आदि) और ७. सत्प्रतिग्रह

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

(मनु० १०/११५)

हम देखते हैं कि चेतन से उत्पत्ति, नियंत्रण तथा प्रभुत्व ये तीन बातें अचेतन पर होती हैं। लोक में भी अचेतन पर चेतन का ही स्वत्व होता है। अतएव उस परम चेतन का पुत्र ही इस अचेतन (प्रकृति) का उत्तराधिकारी हुआ। इसलिए ब्रह्मा, वसिष्ठ, दक्ष, मनु तथा इक्ष्वाकु में परम्परया उत्तराधिकार का विकास होता है। उससे भी आगे विजय, अर्जन, दान, पुरस्कार से स्वत्व का विकास हुआ। यहीं पर धर्म की भी बात आती है। जिसने जैसा धर्माचरण किया, उसे वैसा ही सुख-साधन (स्वत्व)

प्राप्त हुआ। चूँकि शुभाशुभ कर्मों में विभिन्नता है, अतएव समष्टि जगत् या व्यक्ति के असाधारण स्वत्व उत्पन्न होने में भी विभिन्नता होगी। जिसके शुभाशुभ कर्मों का सन्तुलन पेट भरकर जीने मात्र तक है, उनको उतना ही स्वत्व प्राप्त होगा।

उत्तराधिकार के साथ उत्तराधिकारी को अपने पूर्वजों के उत्तरदायित्व को वहन करना पड़ता है। मरने के समय पिता सम्प्रति कर्म करता है। उस समय अपने पुत्रों से कहता है : त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः। पुत्र उत्तर देता है : अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः, अहं लोक (वृ० उ० १/५/१७) अर्थात् पिता पुत्र से कहता है कि अनधीत वेदों का अध्ययन करना, अकृत यज्ञों को सम्पन्न करना, अपूर्ण, लोकसम्पादन को पूर्ण करना, यह तुम्हारा कर्तव्य है और पुत्र उसे स्वीकार करता है। ध्याद देने की बात है कि यदि पुत्र पिता की आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो वह असाधु है। असाधु से सम्पत्ति छीनी जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दाय का आधार धर्म है। धर्महीन होना पशु का लक्षण है और उत्तराधिकारहीन व्यवस्था भी पशुता का लक्षण है; क्योंकि उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति में ही सम्भव है। मनुष्य में ही यह पाया जाता है। पशु में न वैयक्तिक सम्पत्ति है, न उत्तराधिकार। उत्तराधिकार के लिए अपने पिता का पुत्र बनना पड़ता है जिसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के स्थान पर शब्द (आगम) प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि मनुष्य में शब्द प्रमाण पाया जाता है। अतएव शब्द-प्रमाण मानना मनुष्य का असाधारण लक्षण है। अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण तो पशु भी मानता है। चूँकि मनुष्य आगम-प्रमाण मानता है, इसलिए माता तथ भगिनी आदि का व्यवहार भी कर पाता है। किन्तु पशु में न आगम-प्रमाण है, न माता-भगिनी का व्यवहार। इस प्रकार कह सकते हैं कि आगम-प्रमाण के मिटने पर पशुता का विकास होगा। इसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति

होने पर ही हानि का डर और लाभ का लोभ है। फलतः सभ्यता के विकास की सम्भावना भी हो सकती है।

वैयक्तिक सम्पत्ति के मानने पर विषमता का विकास होता है। पूँजीवादी देशों में इस असन्तुलन को सन्तुलित करने का प्रयास नहीं किया गया। फलतः उसकी सारी अच्छाइयाँ बुराइयों में परिणत हो गयीं। किन्तु रामराज्य में आर्थिक संतुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राज्यशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है। जहाँ धर्म और राज्यशक्ति दोनों की अवहेलना होती है, उसे हम “अराजकतन्त्र” कहते हैं। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि किस प्रकार से धर्म के आधार पर आर्थिक सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

भोग के साथ दान, परोपकार, अतिथि-सत्कार, यज्ञादि के द्वारा धार्मिकता तथा सन्तुलन दोनों का विकास होता है। सम्पूर्ण प्रकृति को ईश्वरमय समझकर तथा सम्पूर्ण जीवमात्र को ईश्वरांश समझकर उससे बँचे हुए अंश का हर्ष से स्वीकार करना ही रामराज्य की अर्थनीति का मूलमन्त्र है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशोप० १/१)

हमारा यही आदर्श है। यही कारण है कि कोई शुद्ध भारतीय एक घूँट जल भी पीने लगता है तो उसे भगवान् के चरणों में अर्पित और प्रसाद समझकर पान करता है। यद्यपि समाज में व्यष्टि के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार विषमता का निर्माण होता रहता है, फिर भी प्रत्येक आस्तिक जीवमात्र को बन्धु समझकर (अमृतस्य पुत्राः) सर्वथा समता की ओर अग्रसर होता रहता है। परोपकार एक व्यापक धर्म माना गया है।

जब यह उदार भाव आता है, व्यष्टि अपने को समष्टि का प्रतिबिम्ब अर्थात् विराट् के रूप में समझने लगता है। नेत्र सूर्य, उदर आकाश, कुक्षि समुद्र, अस्थि पर्वत, रोमावलियाँ वृक्ष इस प्रकार के भाव होने पर अपने-पराये का प्रश्न ही विलीन हो जाता है। उस समय समष्टि-दुःख में दुखी तथा समष्टि-सुख में सुखी होना पड़ता है। आत्मवत् समस्त ब्रह्माण्ड में सुख-दुःख के भाव का विकास होने पर अपने दुःख और सुख का भाव ही नष्ट हो जाता है। इस अवस्था में शोषण और उत्पीड़न का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है ? यह भाव जहाँ तक विकसित होगा, उतने अंश में कल्याण अवश्य होगा।

उपनिषदों में “मधुविद्या” का उपदेश दिया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का सुखसाधन बने। कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र विश्व, पितृलोक, देवलोक आदिकों के प्रति क्रमशः व्यक्ति में समाज की कल्याण-भावना का उदय होना आवश्यक है। एक साधक सोचता है कि हे भगवन् ! जगत् अपने खेलने के लिए खिलौना बनाया। कुछ दुर्बुद्धि उसमें ममता करते हैं। वस्तुतः आप ही रचयिता तथा सर्वस्व हैं। संपूर्ण वस्तु ईश्वरीय है। इस प्रकार सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण, केन्द्रीकरण तथा समाजीकरण न होकर उसका “ईश्वरी-करण” होता है। उससे निरन्तर चिन्ता लगी रहती है कि वस्तु समष्टि-कल्याण में ही प्रयुक्त हो। इस कर्तव्य पालन में उसे शरीर तक का मोह नहीं रहता।

यहाँ तक बात और ध्यान देने की है। जहाँ एक तरफ त्याग, दान, परोपकार, अतिथ्य, सेवा आदि द्वारा समष्टि-सेवा का भाव बढ़ाने का प्रयत्न किया गया, वहीं दूसरी तरफ व्यष्टि को प्रतिग्रह से बँचने के लिए भी उपदेश दिया गया। क्योंकि धर्माधारित समाजव्यवस्था में निष्क्रियता आकाशकुसुमवत् है। उसमें पुरुषार्थ को प्रोत्साहित किया जाता है। उ०

तथा शिल्प-वृत्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक, ग्रहिक, अश्वस्तनिक को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया गया है। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' यह एक साधारण सी कहावत थी। स्थिति यह होती है कि देने वालों में त्याग और लेने वालों में लेने से सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न होता था। इस धर्म के प्रभाव से आर्थिक सन्तुलन बना रहता था। आध्यात्मिक तथा भौतिक अर्थनीति में यही अन्तर है कि एक में देनेवालों में देने की होड़ लगती थी, किन्तु कोई लेनेवाला नहीं। दूसरे में देनेवाले देने से जान बँचाते हैं, किन्तु लेने वाले नारा लगाते हैं "लड़कर लेंगे, मरकर लेंगे और मारकर लेंगे।" ऐसे शब्द धर्मशासित राष्ट्र में सुनायी नहीं पड़ते।

यह तो हुई धर्मधारित समाज की व्यवस्था। व्यष्टि इन सिद्धान्तों को मानने में असमर्थता दिखता है तो राज्यशक्ति द्वारा इन सिद्धान्तों के पालन के लिए बाध्य किया जाता है। राज्य इस बात की चेष्टा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित सामान्य जीवन स्तर के सुखसाधन प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त न तो वह मोटे को छील सकता है, न पतले को मोटा बना सकता है। समाजवादी भी समानता से विकास के अवसर की ही समानता की बात स्वीकार करते हैं। बात भी ऐसी ही है, क्योंकि अतिविषमता मिटायी जा सकती है, लेकिन पूर्ण समानता कभी स्थापित नहीं की जा सकती। विषमता के अतिरेक का प्रश्न अतिरेक (सरप्लस) से आरम्भ होता है। पूँजीवादी राष्ट्रों में लाभ अर्थात् अतिरेक का बँटवारा नहीं होता। रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति के होते हुए भी अतिरिक्त का बँटवारा मान्य है और वह भी पाँच भागों में :

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।

पंचधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥

(भाग ० ८/१९/२७)

धर्म, यश, मूलसम्पत्ति की रक्षा, स्वजीवनयापन के लिए, दृष्टान्त में लगे स्वजनों के लिए ये पाँच भाग हैं। यह विश्व की अर्थनीति के लिए धर्माधिष्ठित रामराज्य की अर्थनीति की अपूर्व देन है।

पाँच विभागों में बँटवारा करते समय एक अंश धनाध्यक्ष के पास स्वतन्त्र हो जाता है, अतएव अनावश्यक विषमता का बीजारोपण होता है। उसके लिए व्यवस्था यह है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसके पास ३ वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री हो जाय, ज्योतिष्टोम यज्ञ करे।

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥

(मनु० ११/७)

यह नित्यकर्म माना है, अर्थात् अनिवार्य। इस प्रकार पुनः सम्पत्ति का वितरण होकर व्यक्ति राष्ट्र के सामान्य जीवनस्तर पर पहुँच जाता है। इतने पर भी यदि व्यक्ति अतिविषमता की ओर अन्मुख हुआ और उसके पास सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी, तो उसका अर्थ यही समझा जायगा कि उसने समाज के साथ चोरी की है, अतएव चोर है, उसे चोर की तरह दण्ड देकर पेटभर अन्न के मार्ग पर पुनः ला दिया जाय :

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

(भाग० ७/१४/८)

जैसा कि बतलाया है, उत्तराधिकार के नियम में यह बात है कि उत्तराधिकारी समष्टि-कल्याणमूलक परम्पराओं का अश्वयु पालन करे अन्यथा उसे उत्तराधिकार से भी वंचित कर दिया जा सकता है; क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति असाधु माना जाता है। और उससे राज्य द्वारा सम्पत्ति छीनी जा सकती है। लेकिन राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह

उस सम्पत्ति को अपने हाथ में न लेकर साधु व्यक्ति के हाथ में दे दे।
मनु ने कहा है :

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुमौ ॥

राज्य आर्थिक-सन्तुलन की सदा चेष्टा किया करता है। जो व्यक्ति निर्धन हो गया है, उद्योग में जिसे सफलता नहीं मिली, फिर भी योग्य हो तो राज्य का कर्तव्य होता है कि उसे बिना व्याज का धन दिलाये। इस प्रकार वह सहायता देकर, दिलाकर व्यक्ति का उत्थान करता है। हाँ, वह इस बात की चेष्टा करता रहता है कि “सहायता देनेवाला कहीं स्वयं सहायता पाने की हालत में न आ जाय।” अर्थात् एक वर्ग के व्यक्ति की उन्नति का तात्पर्य सम्पूर्ण समाज की उन्नति है। यह भाव रामराज्य में ही सम्भव है। शस्त्र और शास्त्र दोनों के उचित प्रयोग से राज्य-शक्ति और व्यैक्तिक सम्पत्ति में ऐसा सम्बन्ध बनता है कि आर्थिक-सन्तुलन बना रहे।

(‘रामराज्य और मार्क्सवाद’ से लेकर ‘विचार पियूष’ तक सभी ग्रन्थों में प्रतिपादित)



संघर्ष का कारण और वारण

जिस प्रकार एक-एक वृक्ष ही मिलकर वन तथा एक-एक सैनिक ही मिलकर सेना कही जाती है, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति मिलकर ही कुटुम्ब और कुछ कुटुम्ब मिलकर ही समूह, ग्राम या नगर, इसी प्रकार कुछ ग्राम और नगरों का प्रान्त, प्रान्तों का ही राष्ट्र, राष्ट्रों का ही विश्व बन जाता है। व्यक्तियों के समूह से ही जातियाँ, सम्प्रदाय तथा नानाप्रकार की संस्थाएँ हो जाती हैं। व्यक्तियों के ही दूषणों से जातियाँ, सम्प्रदाय तथा संस्थाएँ दूषित हो जाती हैं। विभिन्न व्यक्तियों के आन्तरिक दूषणों से ही सर्वत्र विघटन फैल जाता है। प्रत्येक प्राणियों के अन्तःकरण में अनादि काल से देवासुर-संग्राम चल रहा है। सात्विकी, राजसी, तामसी, वृत्तियों का संघर्ष चलता रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान आदि तामसी राजसी वृत्तियों का प्राचुर्य, प्राखर्य स्वाभाविक है। शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य आदि सात्विकी वृत्तियों की न्यूनता स्पष्ट ही है। तामसी, राजसी वृत्तियों के निवारण और सात्विकी वृत्तियों के विस्तार के लिए शतधा प्रयत्न करते हुए भी सात्विक भावों की कमी और राजस-तामस भावों की प्रखरता रहती है। प्रत्येक प्राणी का अन्तरङ्ग-संघर्ष ही बाह्य-संघर्षरूप में व्यक्त होता है। यदि अन्तरंग शान्ति हो, तो बाहर भी शान्ति अनिवार्य है। जिसका अपने कार्य-कारण संघात पर अधिकार नहीं है, उसका अपने अन्तःकरण और उसके काम-क्रोधादि

दोषों पर नियन्त्रण न होने पर बाहर भी शत्रु बन जाते हैं। जिसकी दृष्टि में सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् भरपूर है, “समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः” वहाँ शत्रु कहाँ ? व्यक्तियों में ही वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या आदि दोषों के मिट जाने पर क्रमेण, जाति, समाज, सम्प्रदाय, संस्था एवं सर्वत्र से ही विद्वेष, वैमनस्य मिट जाता है, जिससे जातीय, सामाजिक, साम्प्रदायिक, राष्ट्रिय, संघटन हो जाता है। आत्म-परबुद्धि जिन सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् की माया से होती है, उस सर्वान्तरात्मा भगवान् के सात्त्विक से वैर-बुद्धि का नाश हो जाता है।

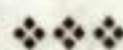
विश्व और विश्व के समस्त प्राणी भगवान् के हैं। समस्त भोग्यवर्ग और समस्त भोक्तृवर्ग भगवान् के ही शरीर हैं। अष्टधा अपरा प्रकृति और जीवरूपा परा प्रकृति, दोनों ही भगवान् के शरीर हैं। जैसे शरीरी का शरीर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, शरीर के सन्ताप और उद्वेग में शरीरी सन्तप्त एवं उद्विग्न होता है, वैसे ही समस्त जीवों के उद्वेग, सन्ताप में भगवान् को भी उद्वेग और सन्ताप होता है। यद्यपि भगवान् अपहृतपाप्मा है, सुख-दुःखमोहात्मक प्रपंच और उसके प्राणियों के सद्गुणों एवं दुर्गुणों से संतुष्ट नहीं होते, प्रपंचातीत है, प्रपंच के दोषों से सर्वथा अतीत है, तथापि भक्तवत्सलता तथा दीनवत्सलता के नाते भगवान् अवश्य ही भक्तों एवं दीनों के सन्ताप से सन्तप्त होते हैं। जो नाना प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, माया, कर्म, काल सबसे अतीत हैं, वे ही भक्तों तथा दीनों के तापों से सन्तप्त होते हैं। भगवान् के भक्त भी यद्यपि स्वयं शोक-मोहादि दोषों से अतीत होते हैं, तथापि भक्तों तथा दीनों के परिताप में वे भी सन्तप्त होते हैं— “सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहै न जाना। निज परिताप द्रवै नवनीता, पर दुःख द्रवै सो सन्त पुनीता।” जैसे अंग के सन्ताप में अंगी सन्तप्त होता है, नेत्र पर आयी हुई विपत्तियों

के प्रतीकार करने के लिए सर्वाङ्ग व्यग्र हो उठते हैं, वैसे ही अपने अंशभूत जीवों के सन्ताप में भगवान् भी उनके सन्त्राण के लिए व्यग्र हो उठते हैं। देहादि उपाधियाँ तथा जीव सभी सन्मात्र, विशुद्ध ब्रह्म में ही पर्यवसित हैं। समस्त जीव ही नहीं, अपितु चेतनाचेतनात्मक सभी प्रपञ्च भगवान् के ही हैं।

जब कि जातीयता, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रियता आदि का सम्बन्ध मान्य है, तब भगवदीयता का सम्बन्ध क्यों न आदरणीय हो ? जब वाह्य सम्बन्ध आदरणीय है, तब परम अन्तरङ्ग भगवदीयता-सम्बन्ध क्यों उपेक्ष्य हो ? जाति, समाज, सम्प्रदाय, राष्ट्र में सर्वत्र ही विघटन का मूल आन्तर दोष है। विद्वेष, वैमनस्य, काम क्रोध आदि से ही विघटन और विनाश उपस्थित होता है। ये दोष ऐसे हैं कि जिनका प्रतिवाद वाह्य उपायों से हो ही नहीं सकता। तोप, बन्दूक, बम ये सभी आन्तर दोषों के प्रतीकार में असमर्थ होते हैं। जैसे बांबी पीटने से सर्प का निग्रह नहीं हो सकता, वैसे ही बाह्य उपचारों से आन्तर दोषों का प्रशमन नहीं हो सकता। परन्तु "मैं अरु मोर तोर तैं माया" ऐसी विचित्र है कि भगवत्कृपा के बिना उसकी निवृत्ति असम्भव है। यह शरीर अस्थि-मांस-चर्ममय पंजर, मूत्रपुरीषभाण्डागार, अत्यन्त अपवित्र है, काक, गृध्र, श्व, शृगालों का भक्ष्य है। फिर भी इसकी अहन्ता-ममता का मिटना भगवत्कृपा के बिना असम्भव है। जो प्राणी निश्छल, निष्कपट होकर अपने आपको भगवान् के श्रीचरणों में समर्पण कर देते हैं, उन्हीं पर प्रभु की कृपा होती है, प्रभुकृपा से माया का तरण होता है—“येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये।” प्रभु के मङ्गलमय नाम और प्रभु के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्र और उनके स्वरूप का अनुसन्धान ही “मैं अरु मोर तोर

तै" भावों का निवर्तक है। "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः" मुझ में, मेरे में, तुझ में, तेरे में सर्वत्र ही भगवान् भरपूर है इस भावना से आन्तर सङ्घर्ष मिट जाने पर, व्यक्तियों, जातियों, सम्प्रदायों तथा राष्ट्रों के संघर्ष मिट सकेंगे और संसार के सभी प्राणी सुख से जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

(सिद्धान्त वर्ष ७, अंक २९)



संघर्ष और शान्ति

आजकल युग बतलाया जाता है संघर्ष का, फलतः शान्ति के लिए जो उपाय किये जा रहे हैं उनसे बढ़ता है संघर्ष ही। वास्तव में यदि शान्ति स्थापित करना है, तो संघर्ष के कारणों को मिटाना होगा। भेदभाव, संकीर्णता, स्वार्थपरायणता आदि के ही वश में होकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समाज दूसरे समाज को तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सताने या उसका सर्वनाश करने को प्रस्तुत होता है। दूसरे का उत्कर्ष न सह सकने या किसी तरह अपने स्वार्थ में बाधक समझने के कारण ही प्राणी दूसरों पर अत्याचार करता है। फिर जब एक तरफ ऐसी भावना होती है, तब दूसरी ओर भी वैसी ही भावना का होना सुतरां सिद्ध है। विचार करने से विदित होगा कि यद्यपि प्राणी अपनी ही स्वार्थता सिद्धि से प्रसन्न होता है, अपने ही स्वार्थ में बाधा होने से उद्विग्न होता है, दूसरों की हानि में कष्ट और उनके सुख से प्रसन्नता नहीं होती, तथापि स्वार्थ के नाते ही सही, दूसरों के हितसम्पादन और अहित-निवारण में भी प्रवृत्ति होनी आवश्यक है। नगर, प्रान्त या राष्ट्र के लोग यदि दृष्टि एवं भूखे रहेंगे तो एक कोटिपति भी सुख की नींद नहीं सो सकता। भूखों का गिरोह बनेगा और उसके विरुद्ध उपद्रव खड़ा करेगा। अतः उसे अपनी सुख-शान्ति के लिए ही सही, अपने कोटिपतित्व की रक्षा के लिए ही सही, दूसरों के भी भोजन की सुव्यवस्था में सहयोग देना पड़ेगा।

बदि एक व्यक्ति स्वार्थवश दूसरे को सतायेगा, दूसरों पर अन्याय, अत्याचार करेगा, तो दूसरों को भी उसके प्रति वैसी ही प्रवृत्ति होगी। अतः सभी को यह सूझ सकता है कि अपने स्वार्थ को नियन्त्रित करके सभी दूसरों का हित चाहें और करें। ऐसे निश्चय को कार्यान्वित करने से क्षमा, अहिंसा, परोपकार आदि स्वाभाविक गुणों का सहज ही संचार होगा। संकीर्णता, स्वार्थ-परायणता के बढ़ जाने से अपने कुटुम्ब में भी ममता, स्नेह नहीं रहता। बानरी अपने बच्चे के भी मुँह से रोटी छीन लेती है। सङ्कीर्णता घटने से कुटुम्ब के समान ही प्रान्तीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रिय जगत् के व्यक्तियों में भी ममता स्नेह तथा हितैषिता का उदय होता है, अपनेपन का जितना विस्तार किया जाता है उतना ही सामंजस्य, सुव्यवस्था होती है और जितना संकोच उतना ही अनर्थ होता है। सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तु भी अपने ममतास्पद बच्चों के मारने में प्रवृत्त नहीं होते। इसी तरह कुटुम्बियों, बन्धुवर्गों, जातिवर्गों एवं विश्व में ममता हो जाने से विरोध भावना दूर होती है और हितचिन्ता ही सर्वतोमुखी होकर प्रवृत्त होती है। सब कुछ आत्मा का ही है या सब कुछ आत्मा ही है, ऐसी कोई भी भावना स्थिर होने पर सङ्घर्ष या अशान्ति का अवकाश नहीं रहता।

पापभावनाओं को मिटाने से भौतिक एवं दैविक उपद्रवों का भी अवसर नहीं आता, अतएव अशान्ति तथा संकट की कथा ही लुप्त हो जाती है। जब प्राणी शरीर, इन्द्रिय आदि की विषमता से अपने में विषमता और भेद मानने लगता है, तभी वैर, वैमनस्य, विग्रह फैलता है। कारण स्पष्ट है कि उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हुआ। जिस काल्पनिक औपाधिक देहादि को वह अपना स्वरूप मानता है, उसी के अनुकूल सम्बन्धियों से प्रेम और प्रतिकूलों से वैर करता है। परन्तु जब वह शान्तचित्त होकर समझ लेता है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्मा हैं, क्योंकि वे मेरे हैं और मैं उनसे पृथक् हूँ तब वास्तविक

आत्मस्वरूप जानकर वह सर्वत्र सम-बुद्धि और प्रेमभावना रखता है। पदार्थों के अस्तित्व एवं प्रकाश से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं। अतएव स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सन्निकृष्टविप्रकृष्ट, आन्तर-बाह्य सभी पदार्थों का जिससे अस्तित्व एवं प्रकाश प्राप्त होता है, वह शुद्ध सत् ही आत्मा है। जैसे घटादि उपाधियों द्वारा एक आकाश में अनेक भेद प्रतीत होते हैं, वैसे ही आत्मा में भी अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनेक भेद प्रतीत होते हैं। वह विभिन्न शरीरों को ग्रहण कर तद्रूप हो जाता है, पर उसका निजीरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि 'त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः' का भाव समझ में आ जाय तो फिर वैर, विघटन का भाव टिक ही नहीं सकता। जब सर्वदृश्यों से पृथक्, असङ्ग, अनन्त एक आत्मा ही सब प्राणियों का वास्तविक रूप है, तब फिर किस पर कोप होगा? यदि कहीं अपने दाँतों से अपनी जिह्वा कट जाय तो किस पर कोप किया जाय?—

जिह्वा क्वचित् सन्दशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुपेत्।

वस्तुतः अहंकारी जीव संसार भर की भिन्न-भिन्न स्थूल, सूक्ष्म, भौतिक चमत्कृतियों को जानने के लिए तो व्यग्र है, परन्तु उसका अपना चित्त तन्मयता के साथ अपने आपको समझने के लिए प्रवृत्त नहीं होता। संसार के दोषों गुणों की मीमांसा में प्राणी का जन्म बीत जाता है, परन्तु अपनी मीमांसा करने की पारी ही नहीं आती। जिसने अपने आपको समझ लिया, उसके लिए और क्या समझना शेष रह जाता है? यह स्वरूपभूत अन्यान्य जीवादि प्रपञ्चों को अथवा परमसम्बन्धी किंवा आत्मा ही समझ लेता है। ऐसी दशा में किसी के भी अहित का अवकाश ही कहाँ? इसीलिए श्रुति ने शान्ति का सर्वसुन्दर उपाय बतलाते हुए कहा है— "तज्जलानिति शान्त उपासीत" अर्थात् समस्त विश्व "तज्ज" परमात्मा से ही उत्पन्न होनेवाला, "तल्ल" उसमें ही लीन होने वाला और "तदन" उसी में स्थित होकर व्यवहृत होनेवाला है। जैसे फेन, बुद्बुद, तरङ्ग आदि की

उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सब कुछ जल में ही होता है, अतः वह जलस्वरूप ही है, वैसे ही सब कुछ सत्स्वरूप परमेश्वर ही है। इस बुद्धि से शत्रुमित्र भावना मिटकर अवश्य ही शान्ति होती है। उच्चावच, विषम, विनश्वर संसार में अनुस्यूत शुद्ध सत्स्वरूप अनन्त बोध का अनुभव सचमुच ही सब अनर्थों को मिटा देता है। सर्वक्षण नहीं तो कुछ क्षण ही सही यह भावना प्रत्यक्ष ही शान्तिकामधेनु है। इसी ज्ञान से साम्यपद में स्थिति होती है। अनन्त, अखण्ड, कूटस्थ, निर्विकार ब्रह्मतत्त्व का अनुभव होने पर संसार की कोई भी स्थिति उसे विचलित करने में समर्थ नहीं होती—
“यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।”

जिन उपायों से व्यक्तिगत शान्ति सिद्ध है, उन्हीं से सामूहिक शान्ति भी सम्भव है, क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही तो विश्व है। यदि सब व्यक्ति अपने एवं अपने कुटुम्ब, ग्रामादिक के सुधार में प्रवृत्त न होकर विश्वसुधार और विश्वशान्ति का ही गीत गाये, तो क्या कभी भी विश्व का सुधार एवं उसमें शान्ति हो सकती है? इसीलिए समष्टिहित पर ध्यान रखते हुए भी व्यक्तिहित की चिन्ता करनी ही पड़ती है, क्योंकि जो अपना ही हित नहीं कर सकता वह दूसरों का उद्धार कैसे करेगा? जो स्वयं शान्ति से दूर है, वह दूसरों को शान्ति कैसे देगा? यह अवश्य है कि समाज का अहित करके अपना हित न किया जाय। राष्ट्र का अहित करके समाजहित एवं विश्व का अहित कर राष्ट्र का हित करना अनुचित है। यही स्वार्थपरायणता है। व्यक्तिहित के सामने समष्टिहित की परवाह न करना यही वैमनस्य, विघटन एवं अशान्ति की जड़ है। समष्टिहित को कुचल कर व्यक्तिहित का ध्यान ही अनुदारता का अर्जन करता है। जिस हित में समष्टिहित की उपेक्षा हो, वह चाहे वैयक्तिक, चाहे सामाजिक, चाहे राष्ट्रिय स्वार्थ हो, अवश्य ही संसार में अशान्ति फैलायेगा। इसीलिए व्यक्तिवाद के समान ही सम्प्रदायवाद, समाजवाद एवं राष्ट्रवाद भी खतरनाक

ही है। आज की अशान्तियों को बढ़ाने में सम्प्रदायवाद एवं राष्ट्रवाद ही मुख्य है। बर्बरतापूर्ण महायुद्ध राष्ट्रयुद्ध राष्ट्रवाद का ही दुष्परिणाम है। परन्तु इस का यह आशय कदापि नहीं कि व्यक्तिहित, समाजहित तथा राष्ट्रहित की उपेक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जैसे समष्टिहित में व्यक्ति का हित आ ही जाता है, वनरक्षा में वृक्षों की रक्षा हो ही जाती है, वैसे ही व्यक्तिहित में समष्टिहित-सम्पादन में अधिकाधिक सुविधा होती है। संकीर्ण कार्यक्षेत्र में कार्य जितना प्रभावकारी होता है, उतना विस्तीर्ण कार्यक्षेत्र में नहीं। अतः सफलता के लिए कार्यक्षेत्र का क्रमिक विकास ही ठीक है। एक ग्राम में प्रभावोत्पादक कार्य कर लेने पर दूसरे ग्रामों में सफलता मिलती है। इसी प्रकार एक दो नगरों में सफलता मिलने पर अन्यत्र बड़ी सहायता मिलती है। अतः विस्तृत कार्य क्षेत्र की अपेक्षा पहले किसी संकीर्ण कार्यक्षेत्र में स्थिरता के साथ कार्य करने से शीघ्र ही व्यापक लाभ होता है। बड़ी शक्ति का कार्यक्षेत्र व्यापक होना उचित है, परन्तु छोटी शक्ति का तो छोटा ही होना चाहिए। जैसे युद्ध में महती सेना पर व्यापक आक्रमण या प्रत्याक्रमण किया जा सकता है, परन्तु छोटी सेना-टुकड़ियों से तो परिमित साध्य क्षेत्र में ही आक्रमण उचित है, ठीक वैसे ही अन्य कार्यक्षेत्रों में आगे बढ़ना चाहिए। अतएव पहले व्यक्तिहित, फिर कुटुम्बहित, तदनन्तर समाज, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्वहित में प्राणियों को प्रवृत्त होना चाहिए, तभी सफलता मिल सकती है।

नीतिशास्त्रों ने नैतिक सफलता के लिए आत्मसंयम की परमावश्यकता बतलायी है। अपनी इन्द्रियों एवं मन, बुद्धि को स्वाधीन कर लेने पर ही दूसरों को अनुकूल बनाया जा सकता है। आत्मसंयम के अनन्तर साधारण शक्ति वाले पुरुषों को कुटुम्बियों तथा पार्श्ववर्तियों का ही उद्धार करना चाहिए। आजकल के लोग राष्ट्र एवं विश्व के संघटन तथा सुधार के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहते हैं, किन्तु अपने कुटुम्बियों का संघटन

करने में अपने को सक्षम पाते हैं। भला जिसने कुटुम्ब को ही कुटुम्ब नहीं बनाया, वह निखिल वसुधा को कुटुम्ब बनाने में कैसे समर्थ होगा ? माता-पिता, भाई-बहन, चचा-भतीजे, वृद्ध-बालक युवक विभिन्न प्रकृति के कुटुम्बी स्त्री-पुरुषों को सहिष्णुता के साथ जिसने अनुकूल बना लिया, जिसने गृह के अनावश्यक प्रतीत होने वाले वृद्धों और गरम स्वभाव के युवकों का सम्मान, लालन, पालन कर लिया, वह अवश्य बाहर के संघोषों को भी सहन कर सकेगा। अतएव यही पक्ष ठीक है कि क्रमेण व्यष्टिभाव मिटाते हुए पूर्ण समष्टिभाव को प्राप्त किया जाय। इस दृष्टि से विश्वशान्ति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति, फिर कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र में सम्मिलित होना परमावश्यक है। जब तक इस क्रम से नहीं चला जाता, तब तक सफलता कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। आजकल राजनीतिक संस्थाओं, सन्धियों, समझौतों द्वारा शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है, परन्तु जबतक व्यक्ति में सुधार नहीं होता, ये सन्धियाँ और समझौते "कागज के टुकड़े" ही बने रहेंगे। यदि सचमुच संघर्ष मिटाना और विश्व में शान्ति स्थापित करनी है तो इसके लिए उन उपायों का प्रयोग करना होगा, जिन्हें आत्मविवेकियों ने बतलाया है।

(सिद्धान्त, वर्ष ६, अंक ३०)



प्रगति का मोह

आधुनिक प्रतिवादी सज्जन धर्म की प्राचीन व्याख्या को, जिसके द्वारा वर्णाश्रम धर्म और सनातन रीति-रिवाजों को पोषण मिले, ठीक नहीं समझते। वे प्रगति के अनुसार उदारतापूर्ण व्याख्या चाहते हैं। परन्तु सनातनी विद्वान् इन मनमानी व्याख्याओं में अपने को अस्वतन्त्र पाते हैं। “चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः”, “तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ” आदि मीमांसादर्शन और गीतादि के अनुसार यही समझते हैं कि धर्माधर्म का निर्णय अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आर्ष धर्मशास्त्रों से ही हो सकता है, केवल अपने मस्तिष्क से नहीं। देश, काल, परिस्थिति का विचार, प्रगति और उन्नति का आधार, उदारता आदि का वास्तविक स्वरूप और उसकी सीमा का निर्णय शास्त्र से ही होता है। शास्त्र मर्यादाविहीन प्रगति उन्नति नहीं। यदि अनुकूल दिशा की ओर प्रकृष्टा गति हो, तो उसी प्रगति को उन्नति माना जा सकता है, प्रतिकूल दिशा की ओर प्रकृष्टा गति अधोगति ही है। भेड़, बकरियों का हरित तृण के लोभ से कूपपतन की ओर प्रकृष्टा गति या अपरिगणित जन्तुओं को जलकर मरने के लिए दीपक की ओर प्रकृष्टा गति प्रगति नहीं है।

उच्छृंखल गति को शास्त्र रोकते हैं। इसे ही आधुनिक सज्जन अनुदारता या संकीर्णता समझ लेते और मनमाने विचारों का स्वागत करना उदारता समझते हैं, परन्तु स्मरण रहे कि एक माता को भी अपने शिशु के प्रति

ऐसी अनुदारता वर्तनी पड़ती है। शिशु को अहितकर कार्यों से माता रोकती है, रोगी को हानिकर कुपथ्यों से वैद्य रोकता है— 'सचिव वैद्य गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आश, राजधर्म तनु तीन कर होई वेग ही नाश।'

न केवल सनातनी हिन्दू, अपितु मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी अपने-अपने धर्मग्रन्थों का सम्मान करते हैं, उनकी प्रत्येक पंक्तियों को शिरोधार्य मानते हैं। हमारे प्रगतिवादी सज्जन ही अपने शास्त्रों को या तो मिटा देना चाहते हैं या फिर इनमें पर्याप्त रद्दोबदल, परिवर्तन चाहते हैं। ये स्वयं समझते हैं कि हमारे शास्त्र और धर्म आजकल के लायक नहीं, इनमें पर्याप्त सुधार होना चाहिए। मुसलमान भी यही भावना उत्पन्न कर हिन्दुओं को अपने धर्म में लेना चाहते हैं। वे कहते हैं— "अगर तुम्हारा शास्त्र, धर्मोपदेश काल के लायक नहीं, परिवर्तन तुम्हें अभीष्ट ही है, साथ ही हमारे धर्म की विशेषता तुम्हें मान्य ही है, तो आओ, समानता, स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने वाले इस्लाम में आओ।"

प्रगतिवादी हिन्दुओं की शिथिलता का भयंकर परिणाम आज सारे समाज को भोगना पड़ रहा है। परन्तु हम जानते हैं कि मुसलमान अपने धर्म और ग्रन्थ के कितने कट्टर भक्त हैं। वे उनमें परिवर्तन किसी भी मूल्य पर करना नहीं चाहते। सनातनी ही नहीं कोई भी धर्मवादी धर्म का सुस्थिर आधार अपने धर्म-ग्रन्थ को मानता है। यदि मनमानी उदारता बरतना है तब तो शिखा, जनेऊ, मन्दिर, बाजा, गाय आदि का सम्बन्ध शिथिल कर दिया जाय, झगड़ा मिटाने के नाते इस्लाम स्वीकार कर लिया जाय। फिर एकता, प्रगति, स्वराज्य, सभी कुछ मिल जायगा। तब हिन्दुत्व-रक्षा की भी क्या आवश्यकता? यदि शास्त्र आधार मान्य न हों, तब तो जैसे और रूढ़ियों को मिटाया जा रहा है, वैसे ही सब झगड़ों की जड़ जनेऊ शिखा आदि की रूढ़ियों को मिटाने में क्या हिचक हो सकती है?

तीन स्वतन्त्रताएँ

राष्ट्र के दृष्टि से मुख्य रूप से तीन स्वतन्त्रताएँ अपेक्षित होती हैं। उन्हीं से प्राणी पराधीनता से मुक्त होकर क्रमशः पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होता है। उनमें भी सर्वप्रथम शिक्षा की स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है। ये तीन स्वतन्त्रताएँ हैं- १. शिक्षा की स्वतन्त्रता, २. धार्मिक-स्वतन्त्रता और ३. धन की स्वतन्त्रता।

शिक्षा की स्वतन्त्रता

सदिच्छा से सद्बुद्धि, सद्बुद्धि से सदिच्छा, सदिच्छा से सत्कर्म और उससे सत्फल की प्राप्ति होती है। जैसी शिक्षा होगी, वैसी ही बुद्धि का होना अत्यन्त प्रसिद्ध है। बुद्धि के अनुसार ही इच्छा और उसके अनुसार ही कर्म होते हैं। “जानाति, इच्छति, अथ करोति”—प्राणी पहले जानता है, फिर इच्छा करता है, तभी कर्म करता है। किसी भी कर्म के पूर्व तदनुकूल संकल्प, विचार या ज्ञान अनिवार्य होता है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसा ही कर्म करता है और फिर वैसा ही फल प्राप्त करता है।

यत्कर्तुर्भवति तत्कर्म कुरुते । यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ।

किसी भी पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। सम्यक् ज्ञान के प्रताप से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं। अच्छी सूझ-बूझ वाला फील्ड-मार्शल अपनी छोटी-सी सेना से डगोड़ी

दुगुनी शत्रु सेना को पराजित कर देता है। अच्छा दाँवपेंच जाननेवाला पहलवान अपने से अधिक बलशाली मल्ल को भी पछाड़ देता है। समझदार व्यापारी सूझ-बूझ के कारण अतिशीघ्र करोड़ों की सम्पत्ति संगृहीत कर लेता है। किस समय क्या खरीदना और क्या बेचना इसकी ठीक सूझ न होने पर व्यापार में सफलता नहीं मिलती। ठीक इसी तरह जानकारी ठीक होने पर ही धर्मानुष्ठान भी सांगोपांग सम्पन्न होता है। मोक्ष का तो मुख्य कारण ही सम्यक् ज्ञान है। “ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः” ज्ञान के बिना मुक्ति होती ही नहीं। यही कारण है कि संसार के सभी देश सर्वप्रथम बाल्यावस्था में ही शिक्षण की व्यवस्था करते हैं। शिक्षण द्वारा ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति ही विविध पुरुषार्थ एवं कार्यों में सफल हो सकता है। ज्ञान-हीन, अशिक्षित शक्तिशाली भी सिंह पराधीनता की जंजीरों में बँध जाता और कठघरों में कैद हो जाता है। हाँ, आधुनिक पाश्चात्य देशों में अर्थ और काम की प्रधानता अधिक है। अतः उनकी शिक्षा व्यवस्था उसी सम्बन्ध में होती है। उसमें उन्हें सफलता भी मिलती है। चिकित्सा और सर्जरी-विज्ञान में आज पाश्चात्यों ने जो प्रगति की है, वह शिक्षा में उनके जागरुक रहने का ही परिणाम है।

भारत में धर्म और मोक्ष की प्रधानता थी। अतः यहाँ की शिक्षा अर्थ और काम के साथ ही धर्म एवं मोक्ष के अनुकूल भी होती थी। यही कारण है कि भारत में शिक्षा के विधानों में भी कुछ अन्तर रहता है। बालकों एवं बालिकाओं के अन्तःकरण बहुत कोमल एवं निर्मल होते हैं, जैसे द्रवीभूत लाक्षा। लाहा में मुहर के अक्षर या कोई रंग स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही निर्मल-कोमल अन्तःकरण में शिक्षण एवं सदाचार का प्रभाव शीघ्र पड़ता और स्थायी भी होता है। इसी कारण शुद्ध सरल, कोमल बालकों के अन्तःकरण में अति दुर्लभ धर्म-ब्रह्मसम्बन्धी सदाचार, सद्विचार के संस्कार डालने एवं कुसंस्कारों से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता रहा है। शिक्षण के समय ब्रह्मचर्यव्रत-पालन, सन्ध्योपासन,

१९५
जप, गुरु एवं अग्नि की आराधना में निरत रहते हुए ही बालक अध्ययन करते थे।

यद्यपि ब्रह्मचर्यादि नियमों के बिना उच्छृंखल रहकर भी गुरु-तिरस्कारपूर्वक विद्या पढ़ी जा सकती है तथापि वह विद्या संस्कृत एवं कल्याणकारी नहीं होती। जैसे अग्निहोत्र की संस्कृत अग्नि एवं श्मशान की अशुद्ध अग्नि में भी दाहनाग्नि से पके भोजन में परहेज ही करता है। उसके धूम एवं भस्म के स्पर्श को बचाया जाता है। अग्निहोत्र की संस्कृत पवित्र अग्नि के धूम एवं भस्म को पवित्र समझा जाता है। वैसे ही नियमहीन अबैध ढंग से शिक्षण प्राप्त करने पर भी विद्या या ज्ञान-विज्ञान मिल सकता है, पर वह अशुद्ध एवं निर्वीर्य ही रहता है। सफल विद्या एवं ज्ञान-विज्ञान तो ईश्वर-भक्ति गुरु-भक्ति एवं ब्रह्मचर्यादि-पालन से ही प्राप्त होते हैं। इसी के लिए उपनिषदों के शांतिपाठों में इस प्रकार प्रार्थना की जाती है कि “हमारा अधीत शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान निर्वीर्य न होकर तेजस्वी हों।”

सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

सेवा, दक्षिणा आदि द्वारा गुरु भी प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते थे, कि तुम्हारे अधीत वेदादिशास्त्र अयातयाम (वीर्ययुक्त, तेजस्वी) हों, निर्वीर्य, निस्तेज, निःसार न हों :

छन्दांस्यायातयामानि भवन्त्वह परत्र।

पहलवान कई बार ठीक अवसर पर जैसे दाँव-पेंच भूल जाता है, अस्त्र-शस्त्र विद्या विस्मृत हो जाती है, उसी तरह वेदमंत्र या तज्जनित ज्ञान-विज्ञान योग्य अवसर पर उपस्थित न हों अथवा उपस्थित होने पर भी सफल न हों, ठीक काम न करें तो उन्हें निर्वीर्य ही समझा जाना चाहिए।

यद्यपि भारतीय परंपरा में भी अर्थ एवं काम की शिक्षा पर्याप्त रूप में दी जाती थी, पर उसकी प्रधानता नहीं होती थी। किसी न किसी रूप में अर्थ एवं काम के साथ धर्म एवं अर्थ का सम्बन्ध जुड़ा ही रहता था। धर्म का मोक्ष और धर्म ही मुख्य फल समझा जाता था। धर्म का अर्थ एवं अर्थ का काम या भोग तो गौण ही फल माना जाता था। काम का फल भी जीवन-धारण एवं अंत में तत्त्व-जिज्ञासा ही मान्य था। वात्स्यायन का कामशास्त्र भी शीघ्र ही तृप्ति एवं वैराग्य द्वारा ब्रह्मप्राप्ति में ही पर्यवसित होता है। कौटलीय आदि अर्थशास्त्रों का अंतिम तात्पर्य तो धर्म-मोक्ष में स्पष्ट ही कहा गया है। इसीलिए अर्थशास्त्र में हर जगह आर्यमर्यादा की रक्षा एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था ही अनिवार्य आवश्यकता मान्य है :

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।

त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

(कौटलीय अर्थशास्त्र १/३/४)

“विद्या” की परिभाषा ही आर्यशास्त्रों में यह है : सा विद्या तन्मतिर्यया अर्थात् धर्म-ब्रह्मसम्बन्धी सम्यक् बुद्धि या ज्ञान ही विद्या है। सुतरां देशी शिक्षा-पद्धति सदैव अध्यात्मप्रधान और धर्ममूलक होती थी। इसीलिए यहाँ सदा ही शिक्षा-व्यवस्था शासन के पराधीन न होकर देश के ऋषियों, आचार्यों एवं शिक्षा-विशारदों के हाथ में रहती थी। भगवान् राम एवं भगवान् कृष्ण भी गुरुओं के आश्रमों में ही जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। सुदामा जैसा अत्यन्त गरीब ब्राह्मण और कृष्ण दोनों ही समानरूप से विद्योपार्जन और गुरु-शुश्रूषा करते थे। तभी एक ब्राह्मण एवं एक महान् शासक में मैत्री दृढ़ रह सकती थी। वे जानते थे कि राज्यलक्ष्मी चपला होती है, वह आज किसी देवता के हाथ में आ सकती है तो कल राक्षस के हाथ में जा सकती है। यदि शिक्षा शासन के हाथ में होगी तो शासन बदलने के साथ शिक्षा भी बदल सकती है। फिर शिक्षा के साथ बुद्धि भी

परिवर्तित होगी। परिवर्तित बुद्धि से धर्म-कर्म, सम्यता, संस्कृति तथा राष्ट्र स्थिरता एवं एकरूपता कभी टिक नहीं सकती।

अनादि वेद तथा तदनुसारी आर्षग्रन्थों के अनुसार ही यहाँ की शिक्षा-व्यवस्था तथा राजनीतिक शासन-पद्धति निर्धारित है। वे ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों द्वारा चिर परिचित तथा अनुभूत हैं। उन्हें किसी प्रयोगशाला में परखने की आवश्यकता नहीं। किन्हीं नवसिखुओं द्वारा उनमें रद्दोबदल की बात सोचना खतरनाक ही होगा।

आम तौर पर लोग सोचते और उचित भी है कि जिस प्रकार की शासन-पद्धति चालू करनी है, उसी प्रकार का राष्ट्र निर्माण आवश्यक होता है। भौतिकवादी राष्ट्र में अध्यात्मवाद पर आधारित धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र कभी सफल नहीं होता। अमेरिका, इंग्लैण्ड, स्विट्जरलैण्ड आदि देश इस योग्य हो गये हैं कि उनमें लोकतन्त्रात्मक शासनप्रणाली सफल होती है। परन्तु अन्य कई देश अभी उस योग्य नहीं हुए हैं। उनके उन्नायक उसे बनाने में लगे हैं। जब उस ढाँचे में राष्ट्र ढल जायगा, तब वहाँ भी वह सफल हो सकेगा।

भारत में यहाँ के नेता 'मार्क्सवाद', 'समाजवाद' या 'सेक्युलरवाद' के अनुसार शासनपद्धति चलाने की बात सोच रहे हैं। ऐसे वाद सर्वथा भौतिकवादी राष्ट्रों में ही सफल होते हैं। इसीलिए मार्क्स ने अभौतिक ज्ञान, आत्मा आदि का जोरदार खण्डन किया है। इन वादों में व्यक्तियों की वैध भूमि, सम्पत्ति, बपौती मिलकियत आदि सभी उत्पादन साधनों का राष्ट्रीकरण अनिवार्य समझा जाता है। उससे हीन अवस्था को लेनिन ने समाजवाद का संक्रमणकाल कहा है। मार्क्सवाद के अंगीकार में भले ही आज कुछ मतभेद हो, पर मार्क्स द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत सम्पत्तियों के राष्ट्रीकरण को सभी समाजवादी, साम्यवादी स्वीकार करते हैं। राष्ट्रीकरण के सिद्धान्त के साथ अध्यात्मवाद या ईश्वरवाद का मेल नहीं बैठ सकता।

आत्मा या ईश्वर दिखावटी हुण्डी नहीं है। उसे मानने पर ईश्वरीय नियमरूप में किसी धर्मशास्त्र को भी मानना ही पड़ता है। वेद, बाइबिल, कुरान आदि कोई धर्मनियम न मानना और आत्मा, ईश्वर आदि मानना दोनों ही विरुद्ध बातें हैं। किसी कम्युनिष्ट ने ठीक ही कहा है “मार्क्सवादी अर्थनीति को मानने के साथ ईश्वर और धर्म को स्वीकार करना या तो मक्कारी है अथवा मूर्खता।” या तो वैसे लोग मार्क्सिज्म जानते ही नहीं या घोखा देने की दृष्टि से वैसा करते हैं। ईश्वर और धर्म माननेवाला अवश्य ही ईश्वरीय नियमों को धर्मशास्त्र के रूप में मानता है। किसी धर्मशास्त्र में किसी वैध सम्पत्ति का अपहरण करना पाप माना जाता है। आँख बचाकर परधन का अपहरण चौर्य है, आँख के सामने दिन दहाड़े परकीय वैध धन का हरण डाका माना जाता है। हमने परोपकार के लिए ऐसा किया है, ऐसा कहने पर भी अदालतों में उसकी सुनवाई नहीं होती, क्योंकि अपने वैध धन से या दानादि वैधमार्ग द्वारा प्राप्त धन से ही परोपकार किया जाता है, डाका डालकर नहीं। इसका मार्क्स के यहाँ स्पष्ट उत्तर यही है कि जीता-जागता प्राणी ही आत्मा है। भौतिक देहादि से भिन्न कोई अलौकिक ज्ञान या आत्मा कुछ सिद्ध नहीं होता। जैसे आम की गुठली या गुलाब के डण्ठल से पत्ते आदि होते हैं और उसी से सुन्दर फूल फल उत्पन्न होते हैं वह कहीं बाहर से नहीं आता, वैसे ही माता-पिता के खून या शुक्रशोणित से देह, इन्द्रिय, दिल-दिमाग उत्पन्न होता है और उसी से चेतन या आत्मा की भी उत्पत्ति होती है। अतः आत्मा या ईश्वर कुछ भी तत्व नहीं है। सुतरां कोई ईश्वरीय नियम या शास्त्र मान्य नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि “देश-काल परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार के उत्पादन-साधनों का आविष्कार होता है। तदनुसार ही आर्थिक परिस्थिति (माली हालतों) में परिवर्तन होता है। तदनुसार ही नियमों, कानूनों में

रहोबदल होता रहता है। हाथ की चक्की, पानी की चक्की आदि के समय की भी माली हालत दूसरे ढंग की थी। अतः उस समय के कानून भी दूसरे ढंग के थे। अब बिजली की चक्की का जमाना है, आज की माली हालत दूसरे ढंग की है। आज बड़े-बड़े कल-कारखानों के प्रभाव से कुछ लोगों के पास अरबों की सम्पत्ति इकट्ठा हो जाती है। अधिकांश लोगों के पास जीवन-निर्वाह के लिए भी कोई सामग्री नहीं रह पाती। अतः आज पुराने कानूनों से काम नहीं चल सकता। आज सभी उत्पादन-साधनों का राष्ट्रीकरण होने पर ही सबके लिए काम एवं दाम का वितरण सम्भव है। पूँजीपति मुनाफे के लिए उत्पादन करता है, किन्तु समाजवादी सरकारें राष्ट्र के उपयोग के लिए उत्पादन करती हैं, मुनाफा के लिए नहीं। अतएव इसी पक्ष में बेकारी, बेरोजगारी आदि दूर की जा सकती है। पूँजीवाद में तरह-तरह के गतिरोध खड़े ही होते रहते हैं। उत्तमोत्तम मशीनों द्वारा थोड़े व्यक्तियों के द्वारा थोड़े समय में ही बहुत अधिक माल का उत्पादन कर लिया जाता है। उत्तमोत्तम मशीनों के आविष्कार के साथ-साथ कामगारों की छँटनी चलती ही रहती है, बाजार में माल पड़ा रहता है। विस्तृत बेकारी के कारण जनसमुदाय क्रयशक्तिहीन हो जाता है। बाजारों में माल की खपत न होने से देशान्तरों के बाजारों में माल भेजना पड़ता है। सर्वत्र कल-कारखानों का विस्तार होने से उसका भी द्वार बन्द हो जाता है। फिर कारखानों की गति धीमी करनी पड़ती है और फिर छँटनी पर ही बल दिया जाता है। इस तरह पूँजीवाद में अनेक गतिरोध अनिवार्य हैं। इसीलिए ईश्वर, धर्म या तत्सम्बन्धी शास्त्रों को छोड़कर राष्ट्र को शुद्ध भौतिकवादी बनाकर परिस्थिति के अनुसार नियमों, कानूनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन अनिवार्य है। इस दृष्टि से आज के राष्ट्रीकरण को चोरी या डाका नहीं कहा जा सकता।

ठीक इसके विपरीत अध्यात्मवाद पर आधारित धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र को मानकर रामराज्य, धर्मराज्य या ईश्वरराज्य की अनिवार्य आवश्यकता

समझनेवाले लोग कहते हैं कि अनादिसिद्ध आत्मा तथा ईश्वर के समान ही उसके नियम भी अनादि हैं। आज भी हेतुवैलक्षण्य के बिना कार्य वैलक्षण्य कहीं नहीं दीखता। अतः विश्व-वैचित्र्य के आधार पर उसके हेतु धर्मधर्म का वैचित्र्य मानना ही पड़ता है। भले ही आज बड़ी-बड़ी मशीनें अवेतन होती हुई भी करोड़ों मनुष्यों के बराबर काम कर लें, फिर भी अन्त में उनका निर्माता या संयोजक चेतन मनुष्य ही है। भिन्न-भिन्न कल-पुर्जों का आविष्कार, निर्माण, संयोजन चेतन के बिना सम्भव नहीं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी आदि की नियन्त्रित गति, ऋतुओं का परिवर्तन, समुद्र के ज्वारभाटे आदि की स्थिति किसी चेतन नियन्ता के नियम का ही परिणाम है। भले ही पार्थिव या जलीय तत्वों पर ही दाहकत्व प्रकाशकत्व विशिष्ट अग्नि या दर्शन होता है, फिर भी अग्नि पार्थिव, जलीय तत्वों से भिन्न है। उनसे उसकी उत्पत्ति नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह भले ही भौतिक देह या मस्तिष्क से ही चेतना की प्रतीति हो, फिर भी वह उनसे उत्पन्न नहीं, किन्तु अभिव्यक्त होती है और वह स्वतन्त्र है।

धर्मराज्य, ईश्वरराज्य के विश्वासी मानते हैं कि आत्मा, ईश्वर और उसक नियमों को मानकर भी बेकारी, बेरोजगारी दूर की जा सकती है, आर्थिक असंतुलन मिटाया जा सकता है। जैसे तत्तत् यंत्रों के आविष्कारक निमार्ताओं की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार ही उन-उन यंत्रों के संचालन एवं संरक्षण की व्यवस्था मान्य होती है, वैसे ही विश्वनिर्माता ईश्वर की निर्दिष्ट पद्धति से ही विश्व का संवर्धन, संचालन एवं रक्षण करना उचित है। उत्पादन एवं आय के अनुपात से टैक्स बढ़ाकर चंदा एवं दान आदि द्वारा संगृहीत सम्पत्तियों एवं साधनों से बेकारों, बेरोजगारों की रोजी एवं काम की व्यवस्था सुसम्पन्न की जा सकती है। फिर प्रत्येक उत्पादन-साधनवाले की अतिरिक्त आय में धर्म, यश, अर्थ, काम, स्वजन एवं भोग के लिए पाँचवाँ विभाजन की शास्त्रसिद्ध व्यवस्था

पर चालू करने पर सरलता से आर्थिक असंतुलन दूर किया जा सकता है। असाधुओं का धन हरणकर साधु पुरुषों के रोजगार की व्यवस्था शास्त्रसम्मत है। यथा :

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।

पंचधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥

(भाग० ८/१९/३७)

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।

स कृत्वा प्लवमात्मानं सनतारयति तावुभौ ॥

(मनु० ११/१९)

काम के घण्टों में कमी कर उत्पादनानुसार वेतन, बोनस में वृद्धि करके भी समस्या का समाधान संभव है। अन्त में बेकारी बढ़ानेवाले महायंत्रों के निर्माण पर भी प्रतिबन्ध आवश्यक है। यद्यपि आधुनिक लोग कहा करते हैं कि "हम इतने आगे बढ़ चुके हैं कि अब पीछे लौटना संभव नहीं", पर यह निर्णय बुद्धिमानों का नहीं है। सदा ही आगे बढ़ना श्रेयस्कर नहीं होता। यदि आपकी मोटर खन्दक या दलदल के पास पहुँच जाय तो आपको पीछे हटना ही चाहिए, आगे बढ़ना बुद्धिमानों नहीं। तभी तो गत दिनों मास्कों में संसार के विद्वान् अणुशक्ति के परीक्षण एवं विकास पर प्रतिबन्ध लगाने पर सहमत हो सके। उन लोगों ने समझ लिया कि यद्यपि इस दिशा में हम लोग बढ़ चुके हैं, तो भी बढ़ना मानवता के लिए खतरा है। अतः पीछे हटना ही ठीक है।

इस तरह आधुनिक शासन-पद्धतियों में पर्याप्त मतभेद को स्थान रहता है। फिर भी शिक्षा के समान ही शासन-पद्धति भी शास्त्रीय धार्मिक-सिद्धान्तों से नियंत्रित एवं शास्त्रानुसारी ही होनी चाहिए। इसीलिए भारतीय दृष्टि से वेद एवं तदनुसारी धर्मशास्त्र ही मुख्य शासन-विधान हैं। अतएव

यहाँ विधान-निर्मात्री-परिषद् की अपेक्षा न होकर विधाननिर्देशी-परिषद् ही होती थी। शासनसत्ता हथियाने में सिद्धान्त की अपेक्षा अनेक लौकिक स्वार्थों की ही प्रधानता रहती है। ऐसे सभी लोगों से शास्त्रीय संविधान मनवाना सरल नहीं। इसी कारण समय-समय पर शासन में अनेक प्रकार के लोगों का प्रवेश होता रहता है।

यदि शासन-पद्धति को दृष्टि में रखकर शिक्षा-पद्धति निर्धारित होगी तो शिक्षा बदलने से राष्ट्र की बुद्धि, इच्छा, भावना, संस्कृति सब कुछ बदलकर अन्त में राष्ट्र ही बदल जायगा। अतः शासन भले ही बदल जाय तो भी धर्म, संस्कृति, सभ्यता तथा राष्ट्र की एकरूपता के लिए शिक्षा-पद्धति का बदलना श्रेयस्कर नहीं। इस दृष्टि से कोई हुकूमत मांसमय देह पर ही शासन कर सकेंगी। आध्यात्मिक दृष्टि से हम स्वतंत्र रह सकेंगे और कभी भौतिक पराधीनता को उखाड़ फेंकने का भी अवसर मिल सकेगा किन्तु शिक्षा, संस्कार इतिहास के बदल जाने पर राष्ट्र आध्यात्मिक दृष्टि से भी सदा के लिए पंगु हो जाता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता

इसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध में राष्ट्र को स्वाधीन रहना चाहिए। धर्म पर कभी भी शासन का हस्तक्षेप क्षम्य न होना चाहिए। कई बार परिस्थिति के अनुसार विदेशी या स्वदेशी विधर्मियों के हाथ में भी शासन जा सकता है। यदि शासन को धर्म पर हस्तक्षेप करने का अधिकार हो, तब तो धर्म की भी स्थिरता न रह सकेगी। यदि औरंगजेब जैसे शासक इस अधिकार का उपयोग करें तो किसी भी धर्म के लिए भीषण परिस्थिति उपस्थित हो सकती है। भारतीय परम्परा में तो स्मृतियों में उल्लेख है कि कोई राजा यदि अन्य देश में शासन करने जाय तो वह वहाँ के धर्मगुरुओं के अनुसार वहाँ के आचारों को जानकर उनका पालन करे, उनमें हस्तक्षेप न करे :

यस्मिन् देशे च आचारः पारम्पर्यक्रमगतः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा स वशमागतः ॥

शुक्रनीति में भी बहुत से स्मृतिविरुद्ध परम्परा प्राप्त आचारों के दण्डक्षेत्र से बाह्य माना है। आज भी सुरक्षापरिषद् के 'मानवाधिकार घोषणापत्र' के अनुसार किसी सरकार को किसी भी नागरिक के धार्मिक विश्वास में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में शिक्षा स्वाधीनता के तुल्य ही धार्मिक-स्वाधीनता भी पूर्ण स्वतंत्रता का एक अनिवार्य अंग है।

धन की स्वतन्त्रता

इसी प्रकार वैध धन की स्वाधीनता भी प्रत्येक राष्ट्र के लिए अनिवार्य है। शिक्षा एवं धर्म की स्वाधीनता भी धन की स्वाधीनता के बिना बेकार हो जाती है। धन रहने पर ही यज्ञ, दान, मंदिर-निर्माण, भोग-राग, शिक्षा-संचालन आदि संभव होता है। लोकतंत्र, जनतंत्र भी व्यक्तिगत वैध धन रहने पर ही चल सकता है। जनतंत्र वहीं रह सकता है जहाँ जनता में नापसन्द सरकार बदलकर मनचाही सरकार बना सकने की शक्ति रहे। यह वहीं संभव है, जहाँ जनता स्वतंत्रता से निर्वाचन जीत सकती है। यह भी वहीं संभव है, जहाँ निर्वाचन निष्पक्ष एवं सस्ता हो और जनता के प्रत्येक व्यक्ति के पास निर्वाचन लड़ने का साधन रहे। निर्वाचन-साधनों में धन का प्रमुख स्थान रहता है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि रहने पर ही पोस्टर, नोटिस, अखबार, लाउडस्पीकर, जीप, कार्यकर्ता आदि का संग्रह हो सकता है। जहाँ निर्वाचन महँगा और जनता धनहीन हो, वहाँ जनता नापसंद सरकार कभी बदल ही नहीं सकती, जहाँ पेट भरने की रोटी, तन ढाँकने को कपड़ा तथा बीमार के लिए इलाज मिलना कठिन हो, जहाँ (२५०), (५००) रु० निर्वाचन की जमानत का भी रुपया जुटना कठिन होता है, वहाँ बहुव्ययसाध्य निर्वाचन संभव कहाँ ? फिर

भी मक्कार शासक यही कहते रहते हैं कि “यह जनतंत्र सरकार है, जो चाहे एम० पी०, एम० एल, ए० बने, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री बने, मनचाही सरकार बनाये और नापसन्द सरकार बदल दे।” यह कथन ठीक वैसा ही है जैसे किसी पक्षी के पंख काटकर उसे उड़ने की मुकम्मिल आजादी दे दी जाय, अथवा किसी मनुष्य का पैर काटकर उसे दौड़ने की खुली छूट दे दें। यह सब सिवा मक्कारी के कुछ नहीं। इस तरह स्पष्ट है कि धनहीन जनता किसी खूंखार शासन को भी बदलने में समर्थ नहीं होती। सिर झुकाकर सब अत्याचार सहने के सिवा उसके सामने कोई चारा ही नहीं रहता। कोई भी आंदोलन बिना धन के संभव नहीं है।

राष्ट्रिय उत्पादन की दृष्टि से भी नौकरशाही, व्यापार, उद्योग-धन्यों और खेती की अपेक्षा छोटी-छोटी समितियाँ एवं व्यक्ति-विशेष को अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं। यद्यपि किन्हीं व्यापार आदि विषयों में “संभूय समुत्थान” (कम्पनी आदि) का शास्त्रों में समर्थन मिलता है, फिर भी खेती आदि के सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रयत्न ही अधिक सफल होते हैं। आम तौर पर व्यक्तिगत वस्तुओं में लाभ के लोभ एवं हानि के डर से प्राणी सावधानी से प्रयत्न करता है। साझेदारी या नौकरशाही में वह सफलता कभी भी नहीं मिल सकती।

सुना जाता है कि सोवियत रूस में सामूहिक कृषि-प्रणाली समाप्त होने जा रही है। वहाँ व्यक्तिगत इकाइयों के रूप में खेत बाँट दिये जाएँगे। वहाँ किसानों को वचन दे दिया गया है कि खेतों के बड़े प्लाट नहीं बनाये जाएँगे और न वे राजकीय फार्मों के साथ ही मिलाये जाएँगे। संसार के अन्य भागों के किसानों की भाँति ही सोवियत किसान भी चाहते रहे हैं कि कृषि पर उनका अधिकाधिक नियंत्रण रहे। सन् १९२८ में वहाँ सामूहिक खेती की योजना कार्यान्वित की गयी थी। कहा जाता है

कि उस समय डेढ़ करोड़ किसान मौत के घाट उतार दिये गये। यह संख्या भी वास्तविकता से कम ही है। इसमें उन लाखों व्यक्तियों की गणना नहीं है, जिन्हें उस कार्यक्रम को लागू किये जाने के बाद दीर्घकालीन दुर्भिक्ष में मौत का शिकार बनाना पड़ा। तब से बराबर कृषि में अवनति होती रही है। प्रायः इस कमजोरी से सभी कम्युनिस्ट देश पीड़ित हैं। कोई भी कम्युनिस्ट देश अपनी जनता को खिलाने के लिए स्वावलम्बी नहीं। सबको विदेशों से मँगाये गये अन्न पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

कहा जाता है कि खुशेव के हटाये जाने का एक यह भी मुख्य कारण था कि उनको भी विदेशों से पर्याप्त अन्न मँगाना पड़ा। इतने दिनों के बाद सामूहिक खेती रूसी नेताओं को अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी। यह ठीक ही है, खेतों को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर किसान जितना श्रम कर सकता है, उतना सामूहिक खेती में नहीं। चीनी “कम्यूनों” में भी यही बात है। इन घटनाओं से उन देशों की आखें खुलनी चाहिए जो व्यक्तिगत खेती को खत्म कर सरकारी एवं सामूहिक प्रणाली चलाने जा रहे हैं।

बड़े उद्योग-धन्धों के लिए भी यही कहा जा सकता है कि वे भी सरकारी होने की अपेक्षा व्यक्तिगत रहकर ही अधिक लाभदायक हो सकते हैं। उसमें कुछ अंशों में संभूय समुत्थान (सामूहिक सिस्टम) लाभदायक हो सकता है, पर वह सर्वथा ऐच्छिक और अपेक्षाकृत सीमित होना चाहिए। व्यक्तिगत लाभ का लोभ एवं हानि का डर हर क्षेत्र में प्रगति के लिए अनिवार्य अंग है। इस दृष्टि से पूर्वोक्त तीन प्रकार की स्वतंत्रताओं की प्राप्ति से ही प्राणी लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त कर वास्तविक स्वतंत्रता का सुख भोग सकता है। (‘सिद्धान्त’ एवं विचार पियूष से)

वादों का वाद

प्रायः लोग पूछते हैं कि साम्राज्यवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद, अधिनायकवाद आदि वादों में कौन वाद सम्मत है ? बात यह है कि हमारे व्यक्तिगत विचार का कोई भी मूल्य नहीं। संसार में “मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना” की स्थिति है, अनन्त व्यक्तियों के मसितष्कों के पृथक्-पृथक् विचार होते हैं। उन अव्यवस्थित विचारों से कुछ भी नहीं होता। शास्त्र प्रमाण की कसौटी पर जो विचार खरे उतरते हैं, वही सच्चे हो सकते हैं, अथवा भ्रान्त समझे जाते हैं। अतः शास्त्र का मन्तव्य क्या है ? ऐसा ही प्रश्न समुचित है। शास्त्र की दृष्टि से धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रवाद ही सम्यक् शासनपद्धति है। उसमें अष्ट लोकपालों के अंश से उत्पन्न राजा प्रजा पर शासन करता है और उस पर धर्म का शासन रहता है। धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रवाद का ही दूसरा नाम “रामराज्य” है। इसमें लोकमत का इतना सम्मान था कि लोकप्रसन्नता के लिए श्रीराम ने अपनी प्राणेश्वरी गर्भिणी जनकनन्दिनी जानकी को भी वन में भेज दिया। सच्चे अर्थ में साम्यवाद का इतना आदर था कि राम ने यश के ब्याज से अपनी सम्पत्तियों का यहाँ तक गरीबों में वितरण किया कि जानकी के हाथ में सौभाग्यसूत्र के अतिरिक्त उनके अङ्ग में कोई भी भूषण न रह गया। धर्मनियन्त्रित राजा के लिए राज्य एक तरह का महान् भार प्रतीत होता है और उसके सञ्चालन के लिए महती तपस्या की अपेक्षा पड़ती है। अतपस्वी, अजितेन्द्रिय

राजा से इस भार का वहन असम्भव होता है। धर्मनियन्त्रित राजा को प्रथम अपने आत्मा, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना पड़ता है, फिर निलोभ वृत्ति से राज्य का सञ्चालन करना पड़ता है। कितने राजा लोग राज्य की सम्पत्ति में से भोजन भी नहीं करते थे, किन्तु अपने निर्वाह के लिए पृथक् परिश्रम करके कुछ द्रव्योपार्जन कर लेते थे। आश्रम के कन्दमूलफलाशी, वल्कलवसनधारी, बनवासी महर्षियों को अत्यन्त निःस्पृह देखकर वे उनको यह सोचकर भूमि दे डालते थे कि ये लोग किञ्चिन्मात्र ही प्रजा की सम्पत्ति को अपने भोग में न लगाएँगे, किन्तु प्रजा की सम्पत्ति प्रजा के ही हित में लगाएँगे। सूर्य जैसे तिग्म रश्मियों से पृथ्वी का जल खींचते हैं, परन्तु अपने सुखभोग के लिए नहीं, अपितु यथाकाल प्रजा को ही प्रदान करने के लिए, वैसे ही धर्मनियन्त्रित नृपति करसङ्ग्रह करके उससे अपना हित नहीं चाहता, अपितु प्रजा के ही हित में अहर्निश तल्लीन रहता है। रामराज्य की प्रजा भी धार्मिक होती थी। धर्मनियन्त्रित राजा का कर्तव्य होता है कि वह असन्मार्ग पर जाती हुई प्रजा को समझा-बुझाकर अथवा दण्ड देकर सन्मार्ग पर चलाये। धार्मिक होने से प्रजा अपनी गाढ़ी कमायी की थोड़ी से थोड़ी सम्पत्ति पर ही सन्तुष्ट रहती है, मुफ्तखोरी के लाभ से घबराती है। पूँजीपति, जमीन्दार, साहूकार अपनी सम्पत्ति को परमेश्वर को सम्पत्ति समझते हैं, धर्म और विद्या के प्रचार में अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हैं और गरीबों, दीनों की सहायता में सम्पत्ति लगाने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। वे अच्छी तरह समझते हैं कि दुराचारी व्यसनी, मद्यपायी, वेश्यागामी श्रीमान् अपने लाखों साथियों के साथ नरक के भागी होते हैं। ईश्वरभक्ति, सदाचार, न्यायपालन तथा तपस्या से ऐश्वर्य मिलता है, ऐश्वर्य मिलने पर प्रमादान्ध होकर चलने से नरक मिलता है। अतः ऐश्वर्य प्राप्त करने पर बड़ी सावधानी से धर्मपालन और धर्मप्रचार करना चाहिए, जिससे लाखों को साथ लेकर वैकुण्ठधाम प्राप्त कर सकें।

धार्मिक भावनाओं के प्रचार का ही फल होता है कि प्रत्येक गृहस्थ बलि-वैश्वदेव करके सम्पूर्ण भूतों को, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को तृप्त करता है। वह समझता है कि हम केवल अपने ही लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए जन्मधारी हुए हैं।

धार्मिक भावनावाले अमीर-गरीब सभी अपनी सम्पत्ति दूसरों के हित में लगाना चाहते हैं, स्वयं दूसरों से नहीं लेना चाहते। शास्त्र लेनेवाले को लेने से मना करते और देनेवाले को देने का उपदेश देते हैं। देनेवाले ले लेने की प्रार्थना और लेनेवाले लेने से बचने का यत्न करते हैं। इसके विपरीत वर्तमान काल की दशा है— देनेवाले देना नहीं चाहते, लेनेवाले लेना चाहते हैं, किसी को सन्तोष नहीं। धर्मभावनाओं के न्यून होने पर विषयी, अजितेन्द्रिय श्रीमान् विषयों के किङ्कर हो जाते हैं, गरीबों के हिस्से की धर्म और विद्याप्रचार के हिस्से की भी सम्पत्ति को अपने भोग में लगा देते हैं। अधिक भोगासक्त होने से निर्वीर्य्य हो जाते हैं, जिससे सन्तानों में कमी या निर्वीर्य्यता आ जाती है। दत्तक-विधानों से निकृष्ट खानदान के लोग सम्पत्ति के मालिक बनते हैं, उनमें भी काम क्रोधपरायणता की मात्रा अधिक होती है। दरिद्रों की सन्तान बहुत बढ़ जाती है, धनिकों को लाखों खर्च करने पर भी सन्तान नहीं होती। इस तरह ज्यादा से ज्यादा धन मुट्ठीभर मनुष्यों के हाथ में रहता है और अधिक से अधिक लोग दरिद्र रहते हैं। इधर धनमद से प्रमाद, अत्याचार और कामपरायणता बढ़ती है, उधर दद्रिता से व्यभिचार, चोरी, डाका आदि दुराचार की वृद्धि होती है। फलतः दोनों ही तरफ सङ्घर्ष बढ़ जाता है। इसी खींचातानी में तरह-तरह के आन्दोलन, किसान-जमीन्दार, मजदूर-मालिक आदि की लड़ाइयाँ बढ़ जाती हैं। जबतक धनिकवर्ग स्वयं सदाचारी नहीं होता, स्वार्थान्धता से मुक्त नहीं होता, तकतक उसके धर्मप्रचार पर भी जनता विश्वास नहीं करती। फलतः एक दिन मारकाट फैलकर साम्यवाद का जन्म होता है,

पूँजीपति, मिलमालिक, जमीन्दार, राजा, रईस मारे जाते हैं, धर्माधर्म और ईश्वर भी विषमता के बीज समझे जाकर बहिष्कृत होते हैं, मठों, मन्दिरों, धर्माचार्यों की भी दुर्गति की जाती है, जहाँ हो सका सर्वथा बराबरी का प्रयत्न किया जाता है, काम, दाम, आराम की बराबरी का प्रयत्न होता है। परन्तु यह अव्यावहारिक बात है। सब की स्थिति समान नहीं होती, कोई अधिक काम करने की ताकत रखता है, कोई नहीं, कोई अधिक बुद्धिमान होता है, कोई नहीं, कोई दो मन बोझा उठा सकता है, कोई पाँच सेर भी नहीं उठा सकता, कोई दश मिनट में दश हजार का काम करता है, कोई दिनभर में भी दो आना ही कमाता है। न्यायाध्यक्ष और चपरासी, इञ्जीनियर और इंट ढोनेवाले मजदूर की समान हैसियत नहीं हो सकती, दोनों की समान खुराक भी नहीं हो सकती। यदि इन सब के दाम में बराबरी कर दी जाय, तो अधिक बुद्धिमान, अधिक बलवान और काम करने की क्षमता पैदा करने का कोई भी प्रयत्न ही न करेगा। अतः अन्त में मात्स्यन्याय फैलने पर युद्धादि कार्यसंचालन के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति की अपेक्षा होती है। इसीलिए अनत में चुनाव करके एक को राष्ट्रपति बना लिया जाता है। चुनावों की प्रथा कुछ दिन तक चलती रहती है। इसमें भी जब दलबन्धियाँ चलती हैं, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्याओं के प्रचारों से जब अयोग्य व्यक्ति जनप्रतिनिधि बनाये जाते हैं और पक्ष-विपक्ष बनकर प्रजा में उपद्रव मचने लगते हैं, तब किसी योग्य पुरुष को पूर्णाधिकार देकर अधिनायक बना दिया जाता है। प्रायः वह सम्राट बन बैठता है। तब उसको फिर सिंहासनच्युत करके शक्ति कई लोगों में बाँटने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस तरह इतिहास अपने आप को बार-बार दुहराया करता है। यदि धर्मनियन्त्रित हुआ, तब तो ठीक ही है, अन्यथा उच्छृङ्खल साम्राज्यवाद या अधिनायकवाद बिना डाइबर की मशीन के समान अत्यन्त भयानक

होता है। अतः हर समय धार्मिक भावनाओं का प्रचार परमावश्यक है, उसके बिना सुख-शान्ति नहीं होती, अतएव धर्मनियन्त्रित राजा का परम कर्तव्य है कि वह धर्मसंस्थापन में पूर्णरूप से प्रयत्नशील हो। जो अन्याय से राष्ट्र को पीड़ित करके कोशवर्धन करता है, वह राजा शीघ्र ही गतश्री होकर सपरिवार नष्ट हो जाता है-

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।

सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥

प्रजापीडित-सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राजा के कुल, श्री और प्राणी को बिना दग्ध किये निवृत्त नहीं होता-

प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।

राजः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्तते ॥

न्यायतः अपने राष्ट्र के पालन करने में राजा को जो पुण्य प्राप्त होता है, वशीभूत दूसरे राष्ट्र के पालन में भी उसको वैसा ही पुण्य प्राप्त होता है-

य एव नृपतेर्धर्मः स्वराज्यपरिपालने ।

तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ॥

जिस देश में जो आचार और व्यवहार तथा जैसी कुलमर्यादा हो, उनका उसी तरह पालन करना चाहिए, अपने आचार के साथ साङ्गर्ष्य सम्पादन का प्रयत्न कभी भी न करना चाहिए-

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।

तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥ -(याज्ञ०)

एतावता यह सिद्ध होता है कि राजा को किसी के धार्मिक आचार-विचारों पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जो आरोप किया जाता है कि

अर्यों ने दूसरों को पराजित करके उन्हें जङ्गलों में निकालकर अस्पृश्य बना दिया, उनकी सभ्यता को नष्ट कर दिया, ये धारणाएँ सर्वथा गलत हैं। राम ने लङ्का जीतकर विभीषण को दे दी, बाली को जीतकर किष्किन्ध्या सुग्रीव को दे दी, कृष्ण ने कंस को जीतकर मथुरा उग्रसेन को दे दी, जरासन्ध को जीतकर राज्य सहदेव को दे दिया। अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि आर्य्य राजाओं ने अन्यायी राजा को जीतकर उसके उत्तराधिकारी को ही राज्य दे दिया। एतावता जो कहते हैं कि आर्य्यों ने बहुत जातियों को अपने में पचा डाला, यह भी असङ्गत है, क्योंकि आर्यों को सर्वदा साङ्कर्य्य से घृणा रही। वे जैसे अपने धर्म की रक्षा में तत्पर रहते थे, वैसे ही अन्य राष्ट्र के धर्मपालन में भी सावधान रहते थे।

धर्मनियन्त्रित राजा ब्राह्मणों के प्रति क्षमावान्, स्निग्ध, मित्रों में अजिह्व, अवक्र रहता है, शत्रुओं में क्रोधन, भृत्यों और प्रजाओं के प्रति हिताचरण और अहित-निवर्तन में पिता के समान दयावान् रहता है—

ब्राह्मणेषु क्षमा स्निग्धेष्वजिह्वः क्रोधनोऽरिषु।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥

यदि राजा न्याय से प्रजा का परिपालन करता है, तो प्रजा के पुण्य से षष्ठांश राजा को प्राप्त होता है। इसीलिए राजा के लिए सम्पूर्ण दानों से अधिक प्रजापालन ही है—

पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।

सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥

प्रतारकों, तस्करों, ऐन्द्रजालिक, कितवादि दुर्वृत्तों, बलात् घनापहरण करनेवाले महासाहसिक आदिकों से विशेषतः लेखक, गणकादि से पीड्यमान प्रजा का रक्षण परमावश्यक है—

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।

पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥

राजा से अरक्षित होकर प्रजा जो भी कित्तिवष करती है, उसमें से आधा पाप राजा को मिलता है, क्योंकि वह प्रजा से कर ग्रहण करता है-

अरक्षमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किञ्चित्प्रजाः ।

तस्मात्तु नृपतेरर्घ्यं यस्माद्गृण्हात्यसौ करान् ॥

अतः कर्मचारियों की गतिविधियों को गुप्तचरों से समझकर अच्छे लोगों का सम्मान और बुरे लोगों को दण्ड देना चाहिए, उत्कोच (धूस) लेनेवालों को सर्वथा धनहीन करके निकाल देना चाहिए, दान, आसन सत्कार के साथ श्रोत्रियों को अपने देश में टिकाना चाहिए-

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्जात्वा विचेष्टितम् ।

साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥

उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ।

सद्मानमानसत्कारात् श्रोत्रियान् वासयेत्सदा ॥

धर्मनियन्त्रित राजा को सर्वदा महान् उत्साहवाला, बहुदयार्थदर्शी, कृतज्ञ तथा वृद्धों का सेवक होना चाहिए, विनीत तथा हर्ष-विषाद से रहित होना चाहिए, कुलीन, सत्यवाक् एवं पवित्र होना चाहिए, अदीर्घसूत्र स्मृतिमान्, उदार, परदोष का कीर्तन न करनेवाला, धार्मिक (वर्णाश्रमधर्म का आदर करनेवाला) होना चाहिए, निर्व्यसन भी होना चाहिए । मृगया, द्यूत, दिवास्वप्न, पिरवाद, स्त्रियाँ, मद्यपान, नृत्य, वादित्र, गीत और वृथा प्रमण ये दश कामज व्यसन होते हैं । पैशुन्य (अविज्ञात दोषाविष्करण), साहस (अन्यगुणासहिष्णुता), असूया (परगुणों में दोषाविष्करण), अर्षदूषण (अर्थापहरण और देय का अदान), वाक्पारुष्य (कटुवाद), दण्डपारुष्य (ताड़नादि) ये आठ क्रोधज व्यसन हैं । कामज व्यसनों में पान, द्यूत,

स्त्री और मृगया ये चार एवं क्रोधज में दण्डपातन, वाक्पारुष्य, अर्थदूषण, क्रमेण ये कष्टतम व्यसन हैं। इन व्यसनों से रहित होकर प्राज्ञ, निर्भय, रहस्यवित्, रन्ध्रगोप्ता अध्यात्मविद्या, अर्थ, योगक्षेमोपयोगिनी दण्डनीति में, धनोपचय-निमित्त कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, पशुपालनरूप वार्त्ता में, साथ ही त्रयी अर्थात् ऋग्यजुषादि वेदविद्या में दक्ष होना चाहिए। मनु कहते हैं-

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकीज्ञात्मविद्भूयो वार्त्तारम्भांश्च लोकतः॥

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि आधुनिकवादों के वादों में पड़ना व्यर्थ है, उनका कोई स्थायी आधार नहीं, उनसे केवल संघर्ष ही बढ़ेगा, कभी भी शान्ति और परस्पर प्रेम स्थापित न होगा। इसलिए अपने शास्त्रों द्वारा बताये हुए मार्ग पर ही चलना चाहिए। इसी से अपने देश और साथ ही सारे विश्व का कल्याण होगा।

(सिद्धान्त ६/२६/; संघर्ष और शान्ति से)



ज्ञानकर्म-समुच्चय

कुछ लोगों का कहना है कि गीता में इसी विषय पर विचार किया गया है कि ज्ञानी पुरुष जगत् का व्यवहार करता है या नहीं, फिर चाहे वह वेष में संन्यासी हो या गृहस्थ। शेष बातें गीता-धर्म के महत्व की नहीं हैं। गीता में स्पष्ट कहा है कि ज्ञान प्राप्त होने पर निष्काम कर्म बन्धक नहीं होते, प्रत्युत “यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते” कहकर दिखलाया है कि संन्यास से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। “लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा” “अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे” इन वाक्यों में भी दोनों की स्वतन्त्रता कही गयी है। ज्ञानी होने पर यद्यपि मोक्ष ज्ञानमात्र से ही मिल जाता है तथापि “ज्ञानी का कर्म करना या संन्यास लेना इन दोनों में क्या श्रेष्ठ है जिसका मैं आचरण करूँ?” अर्जुन के इसी प्रश्न का उत्तर है कि “संन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही मोक्षकारक हैं तथापि दोनों में संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है।” यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन, कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते” “कर्म ज्यायोऽह्यकर्मणः”, “योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि गीता में कर्मयोग को ही श्रेष्ठ कहा है। क्या सचमुच ऐसा ही है? जब भगवान् ने यह स्पष्ट बतला दिया कि ज्ञानी के करने न करने से कुछ भी अर्थ नहीं, “तस्य कार्यं न विद्यते” “नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन” उसके लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं

तब फिर उस विचार का गीता में क्या महत्व हो सकता है। जबकि अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र मोक्षशास्त्र सभी शास्त्र पुरुषार्थों और साधनों का साध्य-साधनभाव निर्णय कर रहे हैं तब फिर गीता में साध्य-साधनभाव के निर्णय को गौणता देकर “ज्ञानी जगत् का व्यवहार करता है या नहीं” इस निरर्थक विचार में गीता की क्यों प्रवृत्ति होगी ? ज्ञानी भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है यह बात गीता में अवश्य कही गयी है पर “उसमें प्रधान विचार ही यही है” यह कहना अभिनिवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके सिवा जब कर्म करने से ज्ञानी के मोक्ष में कोई विशेषता नहीं होती है, तब यही कहना होगा कि लोकदृष्टि से ही ज्ञानी के कर्मों की विशेषता होगी। परन्तु, जब ज्ञानी की दृष्टि में लोक ही आत्मा से भिन्न होकर कोई पदार्थ नहीं है, तब लोकदृष्टि की विशेषता का भी उसके यहाँ क्या महत्व होगा ? हाँ, प्रारब्धवश व्युत्थान काल में प्रपंचभान होने पर दयालुतावश लोककल्याण की भावना से ज्ञानी लोक-कार्य करे यह मानने में आपत्ति नहीं। परन्तु इसे विधि कभी नहीं कहा जा सकता। जो यह कहा गया है कि ज्ञानी के निष्काम कर्म बन्धक नहीं होते, यह बड़ी ही विचित्रता है। निष्काम कर्म किसी के लिए भी बन्धक नहीं होते, ज्ञानी के ही लिए क्या ? फिर यदि ज्ञानी के ज्ञान से काम नष्ट हो गये तब उसमें काम की संभावना ही नहीं, फिर ज्ञानी के निष्काम कर्म की बात ही कैसी ? इसके सिवा यदि ज्ञानी सकाम कर्म करे, तो क्या वे कर्म ज्ञानी के बन्धक होंगे ? यदि वे सब बातें ज्ञानी के लिए हैं तो कैसा ज्ञान और कैसा ज्ञानी ? किन्तु उसके लिए तो यही कहा गया है “हत्वापि स इमाल्लोकात्र हन्ति न निबध्यते।”

अब रहा यह कि सांख्य और योग दोनों ही समान रूप से स्वतन्त्र हैं सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि दोनों स्वतन्त्र हैं, तब तो फिर बिना कर्म के सांख्य या संन्यास से भी कार्य चल ही सकता है फिर, यह क्यों

कहा गया कि बिना कर्मारम्भ के नैष्कर्म्य नहीं होता ? योग बिना संन्यास केवल दुःख का हेतु है, केवल संन्यास से सिद्धि नहीं मिलती। वस्तुतः योगनिष्ठा साधन है तथा सांख्यनिष्ठा साध्य है। अतएव योग के बिना संन्यास दुःख का मूल है यह सब कथन संगत होगा। एक मोक्ष में ही साक्षात् या परम्परया इन दोनों निष्ठाओं की परमावश्यकता है। इसलिए, एक मोक्ष में हेतु होने के कारण दोनों की एकता कही गयी है। कर्मयोग से ही सत्त्व-शुद्धि, वैराग्य, संन्यास, ज्ञान आदि बन सकेंगे। अतः मल के कारण कर्मयोग संन्यास से श्रेष्ठ बतलाया गया है। जैसे कहीं चन्द्रोदय से भी हरीतकी (हरें) का मूल्य अधिक समझा जाता है वैसे ही अन्तःशुद्धि के बिना सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं, अतः इसका महत्व सबसे श्रेष्ठ है ही। संन्यास-कर्मयोग के प्रकरण में ही “गीतारहस्यकार” कहते हैं कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? यह प्रश्न ही तभी बन सकता है, जब ये दोनों स्वतन्त्र हों। यदि कर्मयोग संन्यास का पूर्वाङ्ग हो तो यह स्पष्ट ही है कि संन्यास ही श्रेष्ठ है, फिर प्रश्न का अवसर ही कहाँ ? ज्ञान के अनन्तर ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिए इस मत को “ज्ञानकर्मसमुच्चय” पक्ष कहते हैं। ज्ञानी को मोक्ष के लिए भले ही कर्म की अपेक्षा न हो, परन्तु अन्य सब कारणों से (लोक संग्रहादि के लिए) उसे भी कर्म करना आवश्यक है। संन्यास के लिए तैयार अर्जुन को कर्म करने की आवश्यकता बतलाने के लिए ही गीताशास्त्र है। फिर भी गीता ने संन्यास का अनादर नहीं किया, प्रत्युत “निःश्रेयसकारावुभौ” कह कर दोनों ही को मोक्षकारक बतलाया है। “एकं सांख्यञ्च योगञ्च” से दोनों की एकता भी सिद्ध की है। कर्मयोग में भी फलाशा का संन्यास करना ही पड़ता है। “न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।” यद्यपि ज्ञान के बाद कर्म और कर्मसंन्यास मोक्षदृष्टि से समान ही है तथापि लोकव्यवहार की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। यदि अजुन अज्ञानी था

इसलिए उसे कर्म का उपदेश हुआ, तो भगवान् उसे अज्ञानी बतलाते और तब वह नचिकेता की तरह ज्ञानी बनने का आग्रह अवश्य करता और भारतीय युद्ध सम्बन्धी सारा उद्देश्य विफल हो जाता। किन्तु भगवान् बार बार ज्ञान-विज्ञान बतलाकर ही उसे कर्म करने को कहते हैं। यहाँ तक कि "एकदुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥" यदि अर्जुन को अज्ञानी मान भी लिया जाय तो भी कर्मयोग के समर्थन में जिन जनक प्रभृति प्राचीन कर्मयोगियों का उदाहरण दिया गया है और भगवान् ने स्वयं अपना उदाहरण दिया है, उन सबको अज्ञानी नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसी शंकाएँ केवल साम्प्रदायिक आग्रह हैं।

इस तरह यद्यपि सिद्धावस्था में कर्मत्याग (सांख्य) और कर्मानुष्ठान (योग) सभी देशों में प्रचलित थे, ये दोनों ही स्वतन्त्र हैं, कोई किसी का अंश नहीं है, उनमें भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है इत्यादि का उत्तर हो चुका, फिर भी संक्षेप में कहा जाता है कि संन्यास और कर्मयोग यह दोनों निष्ठाएँ यदि स्वतन्त्र ही मानी जायँ तो योग के बिना संन्यास दुःखरूप नहीं कहा जा सकता। दूसरे यह कि निःश्रेयस्कर केवल ज्ञान है, कर्मसंन्यास या कर्मयोग कदापि नहीं। वेद ने स्पष्ट कहा है कि "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ज्ञान को छोड़कर मोक्ष का कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। ज्ञानी के लिए करने न करने से कुछ भी अर्थ नहीं "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।" यहाँ तो ज्ञान के पहले जब कर्मयोग कर्मसंन्यास दोनों की अपेक्षा है तब के लिए अर्जुन ने प्रश्न किया है कि "मेरे अधिकार और योग्यता के अनुसार दोनों में से कौन श्रेष्ठ है?" भगवान् ने कहा "कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण के हेतु हैं।" कर्मयोग से अन्तःकरण-शुद्धि वैराग्य आदि होते हैं और संन्यास से विक्षेप-निवृत्ति, निर्विघ्न श्रवण, मनन, निदिध्यासन सम्पन्न होते हैं। इस तरह अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग रूप से दोनों ही की ज्ञान या मोक्ष में अपेक्षा है। स्मरण रहे कि ज्ञान के बाद

कर्मसंन्यास या कर्मयोग किसी की भी निःश्रेयस् में साक्षात् या परम्परया आवश्यकता नहीं है। अतएव, कर्म करने से या न करने से समय या मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है यह “रहस्यकार” को भी मान्य है। हाँ, तो अधिकारानुसार भगवान् ने मूल होने से कर्मयोग को ही अर्जुन के लिए श्रेष्ठ बतलाया। जहाँ अर्जुन “तन्मे ब्रहि” से विशेषतः अपने अधिकारानुसार श्रेष्ठता का प्रश्न करता है। वास्तव में यह बड़ी भूल है कि एक ओर कर्मयोग बिना भी ज्ञानी का मोक्ष माना जा रहा है और दूसरी ओर ज्ञानी के लिए कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी माना जा रहा है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मोक्ष के हेतु होते हैं, वही उनका समुच्चय कहा जाता है। यही कारण है कि पूर्व के समस्त समुच्चयवादी बिना कर्म के केवल ज्ञान से मोक्ष ही नहीं मानते हैं। प्रधान रूप से ही श्री शंकराचार्य का और समुच्चयवादियों का यही मतभेद है। यदि वे लोग मोक्ष में स्वतन्त्र ज्ञान को हेतु मान लेते तो आचार्य का कोई विवाद ही न होता। आचार्य का तो आग्रह यही था कि मोक्ष में ज्ञान स्वतन्त्र ही हेतु है, उसे अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं। ज्ञानी में यदि कर्म रहे तो भी वे मोक्ष में हेतु नहीं हैं। यही नहीं, वे यह पूरी तरह से मानते हैं कि ज्ञानी श्रीकृष्ण, जनक की भाँति “लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है।” परन्तु उसका कर्ममोक्ष में हेतु नहीं, बल्कि कर्तृत्व बुद्धि न होने से वह केवल कर्माभास है। कर्म और ज्ञान क्रमेण मोक्ष में हेतु है। अर्थात् कर्म से अन्तःशुद्धि और फिर ज्ञान से मोक्ष, यह क्रम समुच्चय कहा जाता है। इसे श्री शंकराचार्य भी मानते हैं परन्तु कर्म और ज्ञान ये दोनों मिलकर साथ-साथ मोक्ष के हेतु हैं, बिना दूसरे के कोई भी एक स्वतन्त्र मोक्ष नहीं दे सकता, इसके शंकराचार्य पक्के विरोधी हैं। परन्तु “रहस्यकार” का समुच्चय निराला ही है, जिससे कर्म करने न करने से मोक्ष में कोई बाधा नहीं पड़ती। मोक्ष में ज्ञान ही हेतु है कर्म

नहीं, यह मानते हुए भी उन्होंने ज्ञान-कर्म के समुच्चय की धुन में इतना
 बड़ा पोथा तैय्यार कर डाला जिस पर कि किसी को विवाद ही नहीं है।
 विधि-निषेधातीत ज्ञानी यदि लोकोपकार के लिए कर्म करे तो किसे आपत्ति
 हो सकती है ? फिर जब वे कर्मसंन्यास को भी आदर दे रहे हैं और कर्म
 न करनेवाले का भी मोक्ष मान रहे हैं तब तो नचिकेता की तरह ज्ञानी
 होने का आग्रह करना, सो भी ठीक नहीं है। किसी वस्तु का उपदेश
 मिल जाना और है एवं उसका साक्षात्कार या उसमें निष्ठा हो जानी और
 है। एक आचार्य साधक के लिए सभी सोपानों को बता देता है। परन्तु,
 उस पर स्थिति योग्यतानुसार क्रम से ही होती है। भगवान् ने कर्म, ज्ञान,
 भक्ति, अष्टांग योग सभी कुछ बतलाया और अर्जुन ने जाना भी, परन्तु
 अनुष्ठान या निष्ठा तो योग्यतानुसार क्रम से ही होगी। यदि वह पहले ही
 से ज्ञानी होता तो क्यों "धर्मसंमूढचेता" और क्यों "शोकसंविग्नामानसः"
 होता और क्यों भगवान् यह कहते कि जब तुम्हारी बुद्धि मोहकलिल को
 तर जायगी तब तुम्हें श्रोतव्य और श्रुत से निर्वेद होगा। ज्ञानियों से ज्ञान
 को जानना, वे तुम्हें उपदेश करेंगे। शोक मत करो, तुम में दैवी सम्पत्ति
 आ गयी है, "यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति" इत्यादि। इसके
 सिवा भगवान् ने स्पष्ट कहा कि अर्जुन ! तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है
 "कर्मण्येवाधिकारस्ते।" यहाँ "एव" का अर्थ है कि कर्म-संन्यास में तुम्हारा
 अधिकार नहीं है। साथ ही साथ तुम्हारा फल में भी अधिकार नहीं।
 इससे स्पष्ट होता है कि उच्छृङ्खल शास्त्रानधिकारी पुरुषों को छोड़कर
 शास्त्राधिकारी पुरुषों में कई तरह से अधिकार भगवान् को मान्य हैं। एक
 तो ऐसे पुरुष हैं, जिन्हें वैदिक काम-कर्मज्ञान से स्वाभाविक पाशविक
 काम कर्म-ज्ञान को करना है। वे शास्त्रोक्त कर्म और कर्मफल, दोनों ही
 के अधिकारी हैं। दूसरे उनसे भी उच्च कोटि के हैं जो वैदिक काम-कर्म
 को कर चुके। जब उन्हें भगवत्प्रपन्नता, सत्त्वशुद्धि, ज्ञाननिष्ठायोग्यता के

लिए फल-कामना त्याग कर निष्काम कर्म ही करना चाहिए। वे कर्म-फल के अधिकारी नहीं किन्तु केवल कर्म के अधिकारी हैं। एक उनसे भी उच्चोर्ध्व के हैं जो सत्त्व, विरक्ति, दान्ति, तितिक्षुता, उपरति, उत्कट मुमुक्षा और जिज्ञासा से सम्पन्न हैं। वे कर्म, कर्म-फल सबके संन्यास के अधिकारी हैं। उन्हें निरन्तर आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन में तत्पर होना चाहिए। उसके ऊपर बस फिर ज्ञानी ही है जो कि निषेधात्मक शास्त्र से ऊपर होता है। वह चाहे संन्यास करे, चाहे लोकसंग्रहार्थ कर्म करे। उसी के लिए कहा गया है “यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके, तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।” अर्थात् जैसे स्वतः सम्प्लुतोदक महासमुद्र के मिलने पर वापी-कूपादि उदपानों का (जलाशयों का (स्नानादि) उसी में अन्तर्भूत हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मवित् को सर्वतः सम्प्लुतोदक स्थानीय ब्रह्मसुख में समस्त वेदोक्त कर्मों का प्रयोजन अन्तर्भूत हो जाता है। इसीलिए कहा गया है “तस्य कार्यं न विद्यते।”

परन्तु अर्जुन न फल के अधिकारी थे और न कर्म-संन्यास के। किन्तु वे सर्वतः सम्प्लुतोदक स्थानीय ब्रह्म-सुख की प्राप्ति के लिए सर्वफलों की वांछाओं की त्याग का निष्काम कर्म करने के अधिकारी ठहराये गये। इसीलिए ज्ञान-विज्ञान सुनकर निमोह होकर उसी ज्ञान-निष्ठा के लिए फलाकांक्षा त्याग कर के कर्मयोग में प्रवृत्त हुए। भगवान् या भगवान् के समान अन्य ज्ञानीजन तो मोक्ष के लिए कर्म नहीं करते, अतः वे उस कोटि में नहीं आ सकते। उनके कर्म तो कर्माधिकारियों के कर्म में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हैं। “न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्”। ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर कर्म-संन्यास और कर्मयोग का कोई झगड़ा नहीं होता, क्योंकि ज्ञानी के मोक्ष के लिए कर्म की अपेक्षा नहीं होती, अतः कर्म-संन्यास स्वाभाविक है। “अकामस्य क्रिया काम की एषणा (इच्छा) से ही होती है। ज्ञानी के काम न होने से काममूलक क्रियाओं का न होना स्वाभाविक

ही है। अन्धकार के कारण प्राणी का गर्त (गढ़े) आदि में गिरना होता है, प्रकाश होने से गर्त आदि में न गिरना स्वाभाविक ही है। यदि लोक संग्रहार्थ कर्म हो, तो संन्यासलक्षण" के अनुसार ज्ञान ही संन्यास का सच्चा लक्षण है। अतः कर्म करते हुए भी ज्ञानी परमार्थतः संन्यास ही है। ज्ञान-प्राप्ति, चित्त-शुद्धि के लिए निष्काम कर्मों की परमावश्यकता है। अनन्तर दृढ़ निष्ठा के लिए संन्यास करना चाहिए। दृढ़ ज्ञानी लोक-संग्रहार्थ कर्म भी कर सकता है। संन्यासी के लिए देह-यात्रा-निर्वाहार्थ जैसे भिक्षाचर्या अपेक्षित है, वैसे ही अन्यान्य कर्मों की अपेक्षा नहीं होती। यदि देहयात्रा निर्वाहार्थ कुछ क्षण के लिए शास्त्रानुसार भिक्षाचर्या में लज्जा हो सकती है, तो सभी समय कांचन-कामिनी के गुलाम बनने में उसे लज्जा क्यों न हो? लोकसंग्रह के अधिकारी वे अधिकारिक महापुरुष ही हैं, जिनकी ज्ञान-निष्ठा अविचल है, एवं विशेषकर्म-उपासना के बल से जिनको अधिकार मिल चुका है। साधारण अधिकारी या कर्मचारी शब्द से विशेष लोगों का ग्रहण होता है, वैसे ही आधिकारिक शब्द से विशेष पुरुषों का ही ग्रहण है। अन्यथा सभी कर्म करने वालों का कर्मचारी पद से बोध होना चाहिए।

वास्तविक कर्म में कर्तृत्व-बुद्धि की अपेक्षा होती है, ज्ञान उसका बाधक है, अतः ज्ञान और कर्म का विरोध स्पष्ट है, ज्ञानी का कर्म कर्माभास है। अतएव जो कहा जाता है कि ज्ञानी का भी बिना कर्म किये रहना असम्भव है वह भी देहादि कार्यकरणसंघाताभिमानियों के ही लिए लागू हो सकता है। ज्ञानी के लिए तो कर्मों का करना और कराना ही आश्चर्य है "य एनं वेत्ति हन्तरां यश्चैनं मन्यते हतं, उभौ तौ न विजानीतः" जो इसको मारनेवाला या मरनेवाला जानता है, वे दोनों ही नहीं जानते। "वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययं, कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्" जो इस अविनाशी अव्यय पुरुष को जानता है, वह कैसे

किसी को मार सकता है ? कैसे किसी को मरवा सकता है ? यहाँ न्याय तुल्य होने के कारण कर्ममात्र पर आक्षेप समझना चाहिए ? जैसे आत्मा को हनन क्रिया का कर्ता या कारयिता माननेवाला अज्ञ है, वैसे ही आत्मा को किसी भी क्रिया का कर्ता या कारयिता माननेवाला अज्ञ ही है । अविनाशी आत्मा को जानने वाला जैसे हनन क्रिया का कर्ता और कारयिता नहीं होता, वैसे ही वह किसी भी क्रिया का कारयिता और कर्ता नहीं होता ।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जब अर्जुन संसार से पूर्ण विरक्त और जिज्ञासु हो ही चुका था तब उसे ज्ञाननिष्ठा में ही क्यों न प्रवृत्त किया गया । क्योंकि पूर्ण विरक्त और मुमुक्षु ही सांख्य निष्ठा का अधिकारी होता है । परन्तु समझना चाहिए कि भगवान् की दृष्टि में अभी उसका स्थिर वैराग्य नहीं है । जैसे इष्ट मित्रों के मरण से तात्कालिक श्मशानवैराग्य होता है परन्तु उस वैराग्य का कोई ठिकाना नहीं होता, वैसे ही अर्जुन को अहन्ता-ममतामूलक बन्धु-बान्धवों के स्नेह-विच्छेद निमित्त शोक-मोह के कारण समस्त प्रपञ्च से वैराग्य उत्पन्न हुआ था । अतः शोक-मोह मिटाने के लिए आत्मानात्मा का विवेक आवश्यक था । उससे कर्तव्या-कर्तव्य का विवेक, स्वधर्म में निष्ठा आदि सम्पन्न करना आवश्यक था । भगवदाराधन बुद्धि से स्वधर्मानुष्ठान द्वारा बुद्धि के विशुद्ध होने पर ही सांख्य निष्ठा का अधिकार प्राप्त होता है । अतः प्रथम कर्मयोग की ही अपेक्षा होने से भगवान् ने अर्जुन को ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त न कर उसके अधिकारानुसार उसे कर्मयोग में ही प्रवृत्त किया ।

समाजवाद या रामराज्य

सामाजवादियों का कहना है कि “शोषक एवं शोषित, पीड़क एवं पीड़ित वर्गों का अन्त करके सहयोग के आधार पर ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे वर्ग की उन्नति होगी जिसमें सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन बिता सकेंगे।” यद्यपि शोषक-शोषित भेद मिटाना बुरा नहीं है, परन्तु जब त्रिगुण जगत् है तब तामस-राजस प्राणियों में शोषकत्व, पीडकत्व रहना अनिवार्य ही होगा। तभी तो शासन और निग्रहानुग्रह व्यवस्था अपेक्षित है। सृष्टि के प्रारम्भ काल में जब तामस-राजस भावों की न्यूनता थी, सभी धार्मिक थे, एक दूसरे के हितचिन्ता में निरत थे, तब तो राजा-राज्य, दण्ड्य-दाण्डिक कुछ भी न थे, धर्म के द्वारा ही सब परस्पर नियन्त्रित रहते थे—

न राज्यं न च राजासीन्न दण्ड्यो न च दाण्डिकः ।

धर्मेणैव प्रजाःसर्वा रक्ष्यन्ते स्म परस्परम् ॥

श्री प्रह्लाद जी तो प्रतिदिन परमेश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि विश्व का कल्याण हो, खल (दुर्जन) सुप्रसन्न (सज्जन) हों, प्राणी परस्पर शुमानुध्यायी हों, मन भद्रदर्शी भद्रचिन्तनशील हों, निश्चयात्मिका बुद्धि निष्काम होकर सर्वाधिष्ठान अधोक्षज भगवान् में प्रतिष्ठित हों— “स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवं धिया । मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे

आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥" शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उच्चावच योनियों में प्राणियों का जन्म होता है। विषयता संसार का स्वभाव है। आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ परमेश्वर की ही सन्तान हैं— "अमृतस्य पुत्राः।" आत्मा स्त्री, पुरुष, नपुसंक कुछ नहीं है, जैसे देह ग्रहण है वैसा ही हो जाता है— "नैव स्त्री न पुमानेव न चैवायं नपुसंकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तत्तद्भवति पूरुषः।" ऐसी स्थिति में सभी आत्माओं की सहजप्रातृता, समानता, स्वतन्त्रता तथा वास्तविक एकता ही है। परन्तु आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर आत्मचेतना को भी जड़ भूतों का ही विकास मानने वाले समाजवादियों की दृष्टि में तो समानता, स्वतन्त्रता कुछ भी सम्भव नहीं है।

व्यवहार में आधि, व्याधि, जरा, मृत्यु के बन्धनों में बंधा प्राणी स्वतन्त्र कैसा? बुद्धि, बल, क्रिया, स्वभाव-रचना में अत्यन्त विलक्षणता होते हुए समता कैसी? जब सर्प-नकुल, मूषकमार्जार, अज-वृक, मनुष्य-सिंह आदि परस्पर विरोधी तत्व संसार में रहते आयेंगे, तो पीडक-पीडित विभाग का अन्त कैसे होगा? अहिंसाधर्म से उक्त प्राणियों के वैर का अन्त हो जाता है, अहिंसक के त्रिधान में सर्प-नकुल मित्र बन सकते हैं। परन्तु समाजवादियों का तो अहिंसादि किसी धर्म तथा अदृष्ट शक्ति में विश्वास ही नहीं है। दण्डव्यवस्था द्वारा शोषण पर रोक लगानी उचित ही है। परन्तु वह भी धर्मराज्य का ही आदर्श है, धर्मविहीन समाजवाद में यह भी सम्भव नहीं है। परन्तु इससे यह तो सिद्ध होता कि एक पिता के चार पुत्रों के पितृसम्पत्ति में बराबर भाग पा लेने पर भी जब एक ने प्रमादवश या भोगविलास से सर्वस्व नष्ट कर डाला और दूसरे ने बुद्धि, प्रयत्न तथा संयम के द्विगुणित कर लिया, तो पहले को शोषित और दूसरे को शोषक कहा जाय, ऐसा कहना अन्याय और बुद्धि का दिवालियापन है। शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध मानने से तदनुसारी सुख तत्साधनों एवं दुःख, तत्साधनों में तारतम्य मानना ही पड़ेगा। अतएव इस कथन में भी

कोई तत्व नहीं रह जाता कि समाजवाद मनुष्य को विवशताक्षेत्र से हटाकर स्वीधनता के राज्य में ले जाना चाहता है, क्योंकि आधि, व्याधि, शोक, सन्ताप, जरा मरण तथा जन्म कर्म की परम्परा मिटाने का समाजवाद में कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। जो लोग आजकल के अनुसार पाश्चात्य दृष्टि का ही इतिहास मानते हैं, छः हजार वर्ष की ही दुनिया जिनकी दृष्टि में है, उन परमुखापेक्षियों की दृष्टि में ही मानव इतिहास के आरम्भ से अबतक शोषक वर्ग एवं शोषित वर्गों का संघर्ष चलता रहा है। वैदिक इतिहासों तथा रामायण, भारतादि आर्य इतिहास पढ़ जाने पर सर्वत्र एक ओर ईश्वरीय दैवी सद्भावना, परमैश्वर्य तथा आर्यभाव मिलेगा, साथ ही दूसरी ओर दानवी राक्षसी शक्तियों की भी सत्ता मिलेगी। त्रिगुणात्मक कर्मप्रधान जगत् में कभी-भी सामरस्य की आशा करना व्यर्थ है। ईश्वरराज्य, रामराज्य, धर्मराज्य तथा पक्षपातहीन राज्य सर्वदा ही सर्वोत्कृष्ट शान्ति, सामंजस्य तथा महत्व का राज्य रहा है।

समाजवाद अभी ऐसे शोषणमुक्त समाज की रचना की कल्पना करता है जिससे मनुष्य अपनी असमर्थता की सीमा से ऊपर उठ सके और सामाजिक विकास का नियन्त्रण कर सके। परन्तु आर्य हिन्दू समाज इससे कहीं उत्कृष्ट समाजपद्धति का निर्माण तथा अनुभव कर चुका है। आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, त्याग, वैराग्य, आत्मनिष्ठा की उत्कृष्ट भावना के बिना असमर्थता के ऊपर उठना स्वतन्त्रता का अनुभव करना असम्भव वस्तु है। जड़वादी समाज में इसकी कल्पना भी कहाँ? समाजवाद संसार को आजाद करने का स्वप्न भले ही देखे, व्यक्तित्व के विकास में रुकावट डालने वाले सामाजिक बन्धनों से भले छुटकारा दिलाना चाहे, परन्तु कोई भी अभिज्ञ ऐसे समाज को स्वतन्त्र नहीं किन्तु उच्छृंखल ही कहेगा। कोई भी समाज जितना ही अधिक संयमी एवं नियन्त्रित होगा, उतना ही स्वतन्त्र होता है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व, सभी समष्टि-नियन्त्रण के

रहते हुए, समष्टि हित का ध्यान रखते हुए व्यक्तिगत विकास में पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई व्यक्ति समष्टिहित की उपेक्षा करके, समष्टिहित की हानि करके, समष्टि-नियन्त्रण को टुकड़ाकर व्यष्टिहित का प्रयत्न करे तो वह कभी भी क्षम्य नहीं होता। साथ ही सफल भी नहीं होता। राष्ट्र भी यदि विश्व की हानि करके मनमाने ढंग से आत्मेन्नति चाहता है, तो राष्ट्रवाद भी व्यक्तिवाद एवं तथाकथित सम्प्रदायवाद के समान ही खतरनाक वस्तु होता है। समष्टिहित के लिए व्यष्टि का नियन्त्रित होना आवश्यक है ही, अतः जब तक कोई सीमा निर्धारित न की जायगी तब तक व्यक्ति समाज या संसार कोई भी कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा। वस्तुतस्तु रामराज्यवाद में ही धार्मिक नियन्त्रण में रहकर व्यक्तित्व के विकास तथा पूरे संसार के स्वतन्त्र एवं उन्नत होने का अन्त में सर्वबन्धनमुक्त होकर परब्रह्मात्मभाव प्राप्त कर सकने का मार्ग खुला रहता है। समाजवादी शासन पद्धति में तो व्यक्ति जड़ शासनयन्त्र का नगण्य-कलपुर्जा बनाकर ही रहता है। फिर वहाँ व्यक्तित्व के विकास का अवकाश कहाँ? वैसे तो व्यक्ति को जब सूर्य, चन्द्र, भूमि, जल, वायु, आकाश की अपेक्षा होती है तो फिर वह समष्टिनिरपेक्ष कैसे हो सकता है? साथ ही व्यक्ति या व्यष्टि के पृथक् या विनष्ट हो जाने पर समष्टि नाम की भी कोई वस्तु नहीं रह जाती। यदि पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत उत्थान और विकास न हो तो समष्टि का विकास भी न हो सकेगा, क्योंकि व्यक्ति का समूह ही समष्टि होता है, व्यक्तियों का समूह ही कुटुम्बों के समूह की ग्राम और नगर होते हैं। इसी तरह ग्रामों, नगरों के समूह ही मण्डल, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्व हो जाते हैं।

कहा जाता है कि प्रचलित समाज की दासता, विषमता, असहिष्णुता को सदा के लिए दूर करके स्वतन्त्रता समता, प्रातृत्व की स्थापना समाजवाद का लक्ष्य है। परन्तु यह कोई नयी बात तो नहीं है और लोगों के यहाँ तो यह केवल आदर्श वाक्य ही है परन्तु भारतीयों के यहाँ तो सिद्धान्ततः

यह स्वतः सिद्ध वस्तु है। स्वयं समाजवादी मानते हैं कि फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति का भी यही मूलमन्त्र था, परन्तु उस क्रान्ति के सिद्ध हो जाने पर भी विषमता दूर नहीं हुई, बल्कि व्याधियाँ पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गयीं। इतना ही क्यों, रूसी राज्यक्रान्ति के बाद भी विषमता दूर नहीं हुई, वहाँ भी समाज, राज्य के स्थान पर व्यक्ति का ही राज्य है। किसी तरह जनता को सन्तुष्ट रखने की बात तो साम्राज्यवाद में भी रहती ही है। नाममात्र के लिए चुनाव भी होता है, परन्तु जब दूसरा दल ही क्षम्य न हो, सरकारी भूमि एवं सम्पत्ति से अतिरिक्त भूमि और सम्पत्ति ही न हो, तो चुनाव लड़े भी कौन ? यों तो नाजीवादी हिटलर के पक्ष में भी वहाँ की जनता थी ही। हिटलर के भाषण में जितनी जतना एकत्रित होता और प्रभावित होती थी, उतनी शायद ही किसी के भाषण में होती थी। समाजवादी व्यक्तित्व के विकास की बात करते हैं, परन्तु वस्तुतः उनके यहाँ व्यक्तित्व के विकास का अवकाश ही नहीं होता। व्यक्ति जड़ शासनयन्त्र का एक नगण्य कलपुर्जा ही होता है। जब प्रयत्न की विशेषताओं का प्रभाव फल की विशेषता पर न पड़ेगा, तब किसी भी विकास को प्रोत्साहन कैसे मिल सकता है ? व्यक्ति हानि लाभ की सम्भावना प्रमादालस्य-निवृत्ति एवं तत्परता, सावधानता में अधिक प्रभाव डालती है। मोटे शब्दों में दण्ड का भय, पुरस्कार या महालाभ का लोभ प्राणी को प्रमादालस्य से बचाने और तत्परता का प्रवर्तक होता है। सुव्यवस्था की दृष्टि से वैदिकों के राज्य की व्यवस्था कितनी अच्छी थी इसका आभास एक मन्त्र से मिलता है.... “न मे स्तेनो जनपदे न कदर्व्यो न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।” एक वैदिक राजा महर्षियों के सामने इसलिए सफाई देता है कि मेरा आतिथ्य अग्राह्य नहीं है। मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, कोई कदर्व्य (कंजूस) नहीं, कोई मद्यपायी नहीं, कोई अविद्वान और अनाहिताग्नि नहीं, कोई स्वैरी, व्यभिचारी नहीं, फिर स्वैरिणी, व्यभिचारी

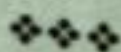
तो हो ही नहीं सकती है ? क्या आज किसी भी राज्य में ऐसी शासनपद्धति दृष्टिगोचर होती है ? आज तो देश का देश चोर हो रहा है । “स्तेनप्राय जनपदाः ।” मद्यपान, व्यभिचार की कहानी का तो कहना ही क्या ? अभी-अभी विष्णुगुप्त चाणक्य के समय तक विदेशियों ने भारत की सुन्दर शासनपद्धति देखकर स्वर्गीय दृश्य अनुभव किया था; जहाँ न्यायालय थे, परन्तु कोई अभियोग न था, कारागार थे परन्तु कैदी न थे, घरों में ताला लगाने की आवश्यकता न पड़ती थी, प्रत्येक गृह में आतिथ्य-सत्कार होता था, पानी के स्थान में दूध मिलता था । उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने सुना और जाकर देखा कि राज्य का प्रबन्धक एक विद्वान् ब्रह्मचारी चाणक्य शीर्ष्ण पर्णकुटी में कुशासन पर बैठा एक हाथ में कुशमुष्टि और दूसरे हाथ में गौमुखी-माला लिये जपकर रहा है, यत्र-तत्र श्रुवा श्यामाक-नीवार पड़े हैं । कुश, समिधा, हरिणशावक एवं वेदाभ्यासी वटुसमूह आश्रम की शोभा बढ़ा रहे हैं । ऐसे महानुभाव निष्पक्ष रूप से निर्विशेष प्रजा के पोषक थे । शोषक तो हैं आजकल के लोग, जो चन्दों के बल पर भोग-विलास करते हैं, हवाई जहाजों पर दौड़ते हैं, जनता के सेवक बनने का दम भरते हैं, परन्तु जनता की गाढ़ी कमाई के पैसों से राजा-महाराजाओं सरीखे भोग भोगते हैं ।

वैदिक संस्कृति के पोषक एक-एक महर्षि और राजर्षि ऐसे हुए, जिन्होंने प्रजाहित में अपना सर्वस्व लुटा दिया । शिबि ने कपोत की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काटकर तुला पर रख दिया, राजा दिलीप ने नन्दिनी गौ की रक्षा के लिए अपने आप को सिंह के सामने मांसपिण्ड के सामान डाल दिया, हरिश्चन्द्र ने धर्मरक्षा के नाम पर राज्य, स्त्री, पुत्र आदि सबकी तिलांजलि देकर अपने आप को डोम का गुलाम बनाया, राजा रन्तिदेव ने ४८ दिन तक निर्जल व्रत करके कण्ठगत प्राण होकर भी सक्तु-जल आदि द्वारा निर्विशेषभाव से ब्राह्मण, शूद्र, अन्त्यज, पुत्कस

की सेवा की और मरते समय परमेश्वर से यही वरदान माँगा कि प्रभो : राज्य, स्वर्ग, मोक्ष कुछ न चाहिए, केवल आर्त प्राणियों का आर्तिनाश ही मुझे वर दीजिए.... "न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् । कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥" इसी प्रकार अपरिगणित महर्षिगण अब्धक्ष, वायुभक्ष, कन्दमूलफलाशी, वल्कल-वसनधारी, वनवासी रहकर किसी के कुछ न लेकर निरन्तर प्रजाहित में संलग्न रहते थे । क्या उन्हें शोषक कहना बुद्धि का दिवालियापन नहीं ?

वस्तुतः आधुनिक अनेक राजनीतिवाद संसार की प्रयोगशाला में आजमाइश के लिए लाये गये । उनमें से कितने फेल हो चुके, कितने ही आये दिन फेल होते हैं । परन्तु धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र तो अपौरुषेय वेदों एवं महर्षियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रसाद है । वह किसी के मस्तिष्क की सृज्ञ नहीं है, उसकी परीक्षा नहीं करनी है । अपरिगणित राजर्षियों की अनुभव पद्धति में भी वह सफल हुआ । वही वेदों में ईश्वरराज्य, रामायण में रामराज्य, महाभारत में धर्मराज्य, शुक्र कौटल्यादि की दृष्टि में पक्षपातहीन राज्य, वही पुराणों में सुराज्य कहा गया है और वही वास्तविक स्वराज्य कहा जा सकता है । उनमें कोई भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता, सब पर धर्म का नियन्त्रण रहता है, राजा-प्रजा सभी धर्म-नियन्त्रित होते हैं ।

(सिद्धान्त वर्ष ११, पृ० २२५-२२६, २४३-२४४)



धर्मसापेक्ष पक्षपात-विहीन राज्य

जब हम आर्थिक-सन्तुलन पर विचार करते हैं, तो धर्मसापेक्ष राज्य पर विचार आवश्यक हो जाता है। किन्तु आज वह पश्चिम की प्रयोगशाला का एक बहिष्कृत-सा विषय बन गया है। उसपर विचार करना विश्व को पीछे, विनाश के गर्त में ले जाना माना जाता है। भारत वर्ष में जब धर्मसापेक्ष राज्य की बात कही जाती है तो तत्काल पश्चिम का दृश्य सामने आता है और भारतीय आधार पर बिना विचार किये उसकी उस रूप में उपेक्षा होने लगती है कि लोग इस विषय पर बात भी सुनना नहीं चाहते। इस अवस्था में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। वस्तुतः भारतीय और पश्चिमी धर्मसापेक्ष राज्य में महान् और मौलिक अन्तर है, इसे आँखों से ओझल नहीं किया जाना चाहिए।

पश्चिम में जब यूरोप पर यूनानी राज्य की प्रतिक्रिया हो रही थी और उसका पर्यवसान मध्ययुगीन राजनीति में हो रहा था, तो उस समय राज्य, पुरोहितों और राजाओं का राज्य और धर्म सम्बन्धी एक विलक्षण रूप सामने आया। ईसाई धर्म के अभ्युदय के बाद समाज में ईसाई-पुरोहितों का शक्ति-विकास इस रूप में हुआ कि वे केवल राज्याभिषेक की धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन ही नहीं करते थे, बल्कि राजाओं के अधिकार का भी निर्णय करते थे। 'पुरोहितों की संस्था' का संघटन होने लगा, जिसके प्रधान 'पोप' कहे जाते थे। इनका शासन राज्य से परे

और स्वतंत्र होता था, कहीं तो राज्य से ऊपर भी। आगे चलकर राजाओं और पोपों में संघर्ष भी हुआ। पश्चिम में पोपों द्वारा संचालित और नियंत्रित राज्य-व्यवस्था को 'धर्मसापेक्ष-राज्य' कहा गया। जब राजाओं ने पोपों की शक्ति समाप्त कर दी और उन पर राजशक्ति का प्राधान्य स्थापित किया, तो राज्यपक्ष से भी दो प्रकार के विचारक सामने आये। एक वे जो राज्य संचालन में धर्म के हस्तक्षेप को मान्यता देना चाहते थे और दूसरे वे जो राज्य की शक्ति को चर्च या पोप की शक्ति के ऊपर ही नहीं, उसमें संशोधन, परिवर्तन और नियंत्रण की पूर्ण अधिकारिणी भी मानते थे। राज्यशक्ति की इस व्याख्या ने धर्मनिरपेक्ष और सर्वाधिकारवादी राजनीति को जन्म दिया, जिसकी दोनों धाराएँ आज भी विश्व की राजनीति में कार्य कर रही हैं।

पश्चिम में धर्म के प्रति एक और विद्रोह हुआ, जिसका भी राजनीतिक महत्व है। पश्चिम में व्यवहृत जितने 'धर्म' या 'सम्प्रदाय' थे, वे परिस्थिति-विशेष में व्यक्ति-विशेष से व्याख्यात या उपदिष्ट थे। उनमें मानवकल्याण के पर्याप्त तथ्य तो थे, किन्तु वे दर्शन का रूप धारण करने में असमर्थ रहे। फलतः उनकी उक्तियाँ ही शाश्वत सत्य का रूप लेने लगी। अनुयायियों में उन उक्तियों के प्रति शाश्वतिक विश्वास भी हो गया, जबकि उनका सम्बन्ध शाश्वतिक शक्ति की उस चिरन्तनधारा के साथ कभी भी नहीं हो पाया था, जिसके साक्षात्कार के माध्यम से श्रेय और प्रेय दोनों का त्रिकालत्व हस्तामलकवत् स्पष्ट कर सके। परिणाम यह हुआ कि इतने अंश में पश्चिमी धर्म अन्ध-श्रद्धा का विषय बनने लगा, जबकि उसके अनुयायी उसे सार्वकालिक और सार्वजनिक मानने का हठ न छोड़ पाये।

प्रकृति के रहस्यों के प्रति सहज जिज्ञासा जब वहाँ नया रूप धारण करने लगी तो वहाँ के धर्म की मान्यताओं से विरोध होने लगा। प्रमाण के लिए वहाँ की धार्मिक मान्यता के अनुसार पृथ्वी की आयु ७०००

वर्ष की थी। बहुत दिनों तक वैज्ञानिक भी यही रट लगाते रहे और इतिहास इतने ही काल में पर्यवसित करते रहे। खेद है कि भारतीय विद्वान् आज भी उतने काल के पूर्व के इतिहास को 'प्राक्कालिक इतिहास' कहते हैं जबकि पश्चिमी विचारकों ने इस मत में परिवर्तन कर लिया है। गैलिलियो ने कहा कि पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों तरफ घूमती है। यह मान्यता ईसा की उक्ति के विपरीत थी, अतएव उसे 'नास्तिक' कहकर उसका धार्मिक वध किया गया। लेकिन विज्ञान का चरण आगे बढ़ा। प्रकृति के रहस्य जिस रूप में सामने आने लगे, वे "बाबावाक्यं प्रमाणं स्यात्" के विपरीत पड़ने लगे। विज्ञान की मान्यता को धार्मिक घोषणाओं से समाप्त किया जाने लगा। यद्यपि सत्य के विपक्ष में घोषणाएँ तो समाप्त हो गयीं, किन्तु एक गम्भीर प्रभाव प्रवाहित हो गया कि विज्ञान पश्चिम में धर्मविरोधी हो गया। फलतः वैज्ञानिक क्षमताओं पर विकसित राजनीति में धर्म अपांक्तेय बन गया।

एक तीसरी बात भी महत्वपूर्ण हुई, जिसका धर्म एवं राजनीतिक सम्बन्ध निश्चित करने में प्रमुख हाथ रहा। धर्म कहीं भी मात्र उपासना या धार्मिक कृत्य के रूप में नहीं रहा, उसका सामाजिक प्रयोग में भी हाथ रहा। पश्चिम में जब उसकी मान्यता समाप्त होने लगी तो उसके कुछ क्षेत्रों में स्थिर रहने का प्रयास किया, कुछ स्थानों में समझौता। जहाँ स्थिर रहने का प्रयास किया, वहाँ शक्तिधरों के पृष्ठपोषक के रूप में अपने को स्थिर रखना चाहा अतएव शक्तिधरों ने शोषण और उत्पीड़न की वास्तविकता धार्मिक व्याख्याओं द्वारा सिद्ध की। फलतः धर्म शोषकों का दलाल या एजेंट बन गया। जहाँ समझौता किया, वहाँ इसने समाज के क्षेत्र से अपने को हटाकर मात्र उपासना और कृत्यों के रूप में अवशिष्ट कर लिया। अतएव धर्म की सामाजिकता समाप्त हो गयी और वह केवल वैयक्तिक रह गया।

जब भारत में धर्म की बात की जाती है तो आधुनिक विचारकों के सामने तत्काल यही पश्चिमी दृश्य और विशेषता सामने आने लगती है। वे तुरन्त कह देते हैं कि "वैज्ञानिक युग में धर्म की क्या आवश्यकता है? धर्म वैयक्तिक चीज है, उसका राजनीति से क्या प्रयोजन? धर्म सदा शोषण और उत्पीड़न की दार्शनिक व्याख्या करता रहा। आज समाज के विकसित चरण में धर्म का कोई महत्व नहीं," आदि आदि। खेद के साथ कहना पड़ता है कि तथाकथित भारतीय विद्वानों ने कभी भी भारतीय ढंग से यदि भारतीय धर्मपरंपरा का अध्ययन किया होता तो सम्भव है आज की भारतीय स्थिति में भारतीयता का प्रयोग विश्व को नया सन्देश दे सकता।

जिस सन्दर्भ को हमने ऊपर प्रस्तुत किया है, वास्तव में भारत की परम्परा में उसका कोई स्थान नहीं। न तो भारत में कभी पोपों जैसी संस्था रही और न वैज्ञानिक सत्य के साथ कभी 'बाबावाक्यं प्रमाणं स्यात्' का हठ ही। भारतीय धर्मशास्त्रों ने कभी शोषण-उत्पीड़न का समर्थन नहीं किया। जब हम विश्व में अन्य धर्मों की स्थिति देखते हैं तो 'धार्मिक अर्थशास्त्र' नामक कोई वस्तु ही नहीं, जबकि 'भारतीय धर्म-विज्ञान' ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का व्यावहारिक और वैज्ञानिक अध्ययन-प्रयोग किया है।

फलतः धर्मसापेक्ष राज का तात्पर्य यह हुआ कि 'राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला, इतिहास का प्रयोग और व्याख्या धर्म के आधार पर की जाय और उसे जीवन में व्यावहारिक रूप दिया जाय।' राज्य इस व्यवस्था का कार्यान्वयन मात्र करे, नकि संशोधन परिवर्तन या परिवर्धन। धर्मसापेक्ष राज्य का कथमपि यह तात्पर्य नहीं कि किसी धर्म या सम्प्रदाय-विशेष का शासन हो और अन्य धर्म या सम्प्रदाय शासन से दूर और उपेक्षित रहें। समाज का जो अंग जिस धर्म में विश्वास रखता हो, उसे उसके अनुकूल जीवन बिताने की पूर्ण स्वतन्त्रता और व्यवस्था होनी चाहिए।

‘कल्याणकारी-राज्य’ समाज के कल्याण और लक्ष्य की स्वयं व्याख्या करने लगता है। इसका फल यह होता है कि वह सामाजिक मान्यताओं में सामाजिक संघटनों को मर्यादा के विपरीत परिवर्तन और संशोधन करने लगता है। यही हमारा उससे विरोध उत्पन्न हो जाता है।

वस्तुतः समाज में कौन-सा अंश उपेक्षित और कौन-सा आवश्यक है, इसका निर्णय समाज के घटक स्वयं करें। राज्य केवल वातावरण प्रस्तुत करे कि समाज में स्वयं संचालन की शक्ति आये। उसके स्वयं संचालन में जहाँ बाधा हो, उसे दूर करना राज्य का कर्तव्य है। इस अवस्था में धर्म, परंपरा की रक्षा तो होती ही है, साथ ही समाज राज्य की अपेक्षा न कर स्वयं अपनी व्यवस्था करने की शक्ति रखता है। नौकरशाही के स्थान पर सहकारिता और सहयोग सहज रूप में सामने आते हैं। आज समाज के कार्यों को राज्य ने जितने अंश में अपने हाथों में लिया, उतने अंश में समाज निष्क्रिय हो गया है।

धर्मसापेक्ष राज्य में सबसे बड़ी बाधा यह पड़ती है कि राज्य में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। यदि उनकी मान्यता में परस्पर विरोध है, तो धर्मसापेक्ष स्थिति कैसे चल सकती है। दूसरी बात यह है कि धर्मसापेक्ष राज्य के कारण स्थिति को पुनः यहाँ भी लाया जाय। वस्तुतः पश्चिम में धर्मराज्य नहीं, अपितु धार्मिकों का सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष था। जिस सम्प्रदाय ने राज्य-शक्ति को प्रभावित कर लिया, उसने अन्य सम्प्रदायों के उत्थान में बाधा पहुँचायी। इसमें संघर्ष हुआ। भारतीय धारणा के अनुसार राज्य शक्ति किसी सम्प्रदाय के हित का साधन नहीं, उसे तो धर्मानुकूल प्रतिष्ठित करने का प्रश्न है।

इस प्रश्न को व्यावहारिक रूप में समझ लेना आवश्यक है। देश में एक धर्म-विभाग हो, उसमें सभी धर्मों के मान्य आचार्य प्रतिनिधि रूप में हों। जिसधर्म की व्यवस्था का प्रश्न हो, वे अपना निर्णय दें और

राज्य उस निर्णय को कार्यरूप में परिणत करे। कहीं-कहीं धर्मों में परस्पर विरोध भी आता है। जैसे मुसलमान गोहत्या का सम्बन्ध धार्मिक कृत्य के साथ जोड़ते हैं और हिन्दू गोरक्षा अपना पवित्र कर्तव्य मानते हैं। ऐसे स्थलों पर यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि ऐसे अंश नित्य धर्म हैं या काम्य? नित्य-कर्म वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक हो जाते हैं। काम्य-धर्म सर्वथा वैयक्तिक होते हैं। समाज के निमित्त से किये कृत्य भी सामाजिक होते हैं। यदि व्यक्ति क्षम्य-कर्मों द्वारा अपना कल्याण करता है और समाज को हानि पहुँचाता है तो आवश्यक है कि ऐसे कृत्यों और धार्मिक मान्यताओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। जहाँ तक ज्ञात है, गो-बलि इस्लाम में विहित नहीं है। हो भी तो वह नित्यकर्म के रूप में नहीं। विश्व के किसी धर्म में नित्य-कर्म समष्टि-विरोध में नहीं है और न उनमें परस्पर संघर्ष है। इस प्रकार की ही राज्य व्यवस्था को हम “धर्म सापेक्ष पक्षपात-विहीन राज्य” कहते हैं। इसी में अल्पसंख्यकों की मान्यताओं का भी रक्षण होगा और वे राष्ट्र के साथ विश्वासघात भी नहीं कर सकते।

(‘सिद्धान्त’, रामराज्य और मार्क्सवाद से लेकर विचार पियूष तक
में व्यक्त विचारों से)

